वर्ष—६ अक्तूबर—१९५७ अंक—८

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

कार्य और कारणस्वरूप उन परात्पर परब्रह्म पुरुषोत्तम को तत्व से जान लेने पर इस जीव के हृदय की अविद्यारूप गाँठ खुल जाती है, जिसके कारण इसने इस जड़ शरीर को ही अपना स्वरूप मान रक्खा है; इतना ही नहीं, इसके समस्त संशय सर्वथा कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् यह जीव सब बन्धनों से सर्वथा मुक्त होकर परमानन्दस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त हो जाता है।

—मुण्डकोपनिषद्

सम्पादक की कलम से

सत्संग की महिमा

महाभारतकार ने सत्य की परिभाषा इस तरह बतलायी है—

"यद्भूतहितमत्यंन्तं तत सत्यम् ।" जो अत्यन्त शुद्ध प्राणिहित हो, वही सत्य है ।

इस परिभाषा की व्याख्या करने से स्पष्ट हो जाता है कि सत्य प्राणिमात्र में निहित है । प्राणियों का हित जिस सत्य से न सिद्ध होता हो वह सत्य नहीं ! सत्य का धर्म है प्राणियों का कल्याण । 'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति इस तरह है— 'धारणाद्धर्मः ।' कहने का तात्पर्य है कि जिसे आचरण से व्यष्टि तथा समष्टि अपने यथार्थ जीवन को धारण किये रहता है वही उसका 'धर्म' है । जैसे अग्नि का धर्म उष्णता, जल का द्रवता और शीतलता, सूर्य का प्रकाश । अगर ये गुण इन पदार्थों में न रहें तो न अग्नि को अग्नि, न जल को जल, और न सूर्य को सूर्य कहा जायगा । उसी तरह सत्य का धम कल्याण है । अगर किसी वस्तु से अकल्याण होता हो तो वह असत्य है ।

इस परिभाषा के अनुसार जो सर्वाधिक कल्याणकारी वस्तु है वह सबसे बड़ा सत्य है ।

मनुष्य का सबसे बड़ा कल्याण मनुष्य होने में ही है । इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण का उपदेश है— 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः ।' अर्थात्, स्वधर्म की रक्षा में यदि निधन हो जाय तो श्रेयष्कर है । अतएव मानना पड़ता है कि मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म है मानवता की रक्षा । मानवता है क्या ?

इसकी व्याख्या में हमारे शास्त्रों का निर्देश है—

आहार निद्रा भय मैथुनं च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मोहि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनः पशुभिः समानाः ॥

अर्थात्, "आहार, निद्रा, भय, मैथुन— ये चार पशुओं तथा मनुष्यों में समानरूप से पाये जाते हैं । धर्म का पालन ही मनुष्य की विशिष्टता है । इसलिये जिन मनुष्यों में धर्म नहीं है उनकी गणना पशु-कोटि में करनी चाहिये ।"

संत कबीर साहब कहते हैं—

गुरु पसु नर पसु नारि पसु, वेद पसु संसार ।
मानुष सोई जानिऐ, जाहि विवेक विचार ॥

धर्म के कारण मनुष्य है— नहीं तो फिर उसे पशु कहना अधिक सार्थक होगा ।

मानव-शरीर की महत्ता सभी गुनी-ज्ञानियों को स्वीकृत है । कहा है रामायण में— 'सुर दुर्लभ सद्ग्रन्थन्ह गावा ।' कारण यह है कि इस शरीर को इस योग्य बनाया गया है कि इसके द्वारा साधन हो सकता है । अन्य प्राणियों के शरीररूपी चोला में वह अभिज्ञता नहीं है कि वह साधन कर सके । पशुओं की चेतना अत्यधिक संकुचित होती है— वे ऐन्द्रिक भोगों की सीमा से बाहर नहीं जा सकते ।

इस शरीर से साधन बन सकता है । इसलिये जिस-किसी साधन से यह योग्यता प्राप्त हो कि हम साधन कर सकें —वही सर्वश्रेष्ठ साधना शरीर के द्वारा ऐसा साधन हम कर सकें कि संसार के पार हो सकें ।

संसार से पार होने का सबसे बड़ा साधन है सत्संग ।

योगवाशिष्ठ में कहा गया है— "संसार से पार जाने का प्रधान उपाय है सत्संग । सत्संग से ही विवेक और ज्ञान होता है । सत्संग से विपत्ति भी सम्पत्ति, मृत्यु भी उत्सव, और जंगल भी मंगलमय हो जाता है । मोह और अज्ञानता का नाश केवल सत्संग से ही सम्भव है । जिसने सत्संग के गंगाजल में स्नान कर लिया उसे बड़े-बड़े दान, तीर्थ, तपस्या

(शेषांश ३२वें पृष्ठ पर)

"घूंघट के पट खोल रे, तोको पिया मिलेंगे"

पूज्य स्वामी मोहीं दास जी महाराज

भक्तों को ईश्वर-दर्शन के लिये उत्कट अभिलाषा होती है। जिस भक्त को यह अभिलाषा नहीं हो, दर्शन के लिये बेचैनी नहीं हो, उसकी भक्ति में बहुत कसर है। भक्ति में प्रेम की प्रधानता होती है, इसको सब कोई जानते हैं। प्रेम विशेष संलग्नता को कहते हैं। प्रेमी चाहता है कि अपने प्रेम पात्र से मिल जाँय। चाहे वह स्वयं उसके पास जाय या उसको बुलाले। ईश्वर सर्व व्यापक होने के कारण सब जगह रहते ही हैं, किन्तु मिलते नहीं हैं। भक्त प्रभु परमात्मा से मिलना चाहता है, उसके लिये जानकारी और युक्ति प्राप्त करता है। इसकी जानकारी हो जाती है कि प्रभु से कैसे मिला जाय। प्रभु से नहीं मिलने का कारण चारो जड़ शरीर के आवरण हैं। ये क्रमशः एक के अन्दर एक हैं। स्थूल के अन्दर सूक्ष्म, सूक्ष्म के अन्दर कारण और कारण के अन्दर महाकारण है।

"मायावश मतिमंद अभागी। हृदय जवनिका बहुविधि लागी॥
ते सठ हठ बस संशय करहीं। निज अज्ञान राम पर धरहीं॥
काम क्रोध मद लोभ रत, गृहासक्त दुख रूप।
ते किमि जानहि रघुपतिहि, मूढ़ पड़े तम कूप॥

तमकूप में गिरा हुआ, काम, क्रोध, मद, लोभ आदि में डूबा हुआ, अन्दर के अनेक आवरणों से ढँके रहने पर राम का दर्शन नहीं होता। यही आवरण कबीर साहब के पद्य का घूंघट है। इन आवरणों से अपने को ऊपर उठा लेना, घूंघट उठा लेना है। अभी जो आपलोगों ने सुना—

"घूंघट का पट खोल रे तोको पीव मिलेंगे।
घट घट में वहि साईं रमता, कटुक बचन मत बोल रे॥
धन यौवन का गरब न कीजै, झूठा पँच रंग चोल रे।
शून्य महल में दियना बारि ले, आशा से मत डोल रे॥
जोग जुगत सों रंग महल में, पिय पायो अनमोल रे।
कहै कबीर आनंद भयो है, बाजत अनहद ढोल रे॥"

कबीर साहब और दादू दयाल जी का—

"नीके राम कहतु है बपुरा।
घर माँहैं घर निर्मल राखै, पंचौं बोलै काया कपरा॥
सहज समरपण सुमिरण सेवा, तिरवेणी तट संयम सपरा।
सुन्दरि सन्मुख जागरण लागी, तहँ मोहन मेरा मन पकरा॥
बिन रसना मोहन गुण गावै, नाना वाणी अनभै अपरा॥
दादू अनहद ऐसे कहिये, भगति तत्त यह मारग सकरा॥"

स्थूल घर को अन्तःकरण की शुद्धि और शरीर की पवित्रता से निर्मल बनाओ। स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर का छुटकारा हो तब सूक्ष्म शरीर पवित्र होगा। कारण शरीर की पवित्रता तब होगी जब इसके ऊपर से सूक्ष्म शरीर उतर जाय। महाकारण की पवित्रता महाकारण पर से कारण शरीर के हटने से होगी। और चेतन की पवित्रता, इस पर से महाकारण शरीर के हट जाने से होती है। इस प्रकार पाँचों

काया रूप कपड़े को जो धो डालेगा वह परमात्मा को प्राप्त करेगा। गो० तुलसी दास जी के वचन में कथित जो अपने अंदर के आवरणों को हटा देगा, तमरूप से निकल आवेगा, वही ईश्वर का दर्शन करेगा। माया रूप अर्थात् इन्द्रिय गम्यरूप ईश्वर के दर्शन में वह शान्ति, सन्तुष्टि और कल्याण नहीं होता, जो परमात्म दर्शन में शान्ति, सन्तुष्टि, कल्याण होता है। इसके लिये हमारे यहाँ पुराणों में इतिहास है ही। जो रामायण, महाभारत, भागवत पढ़ते हैं वे जानते हैं। जहाँ तक स्थान है, उत्तम से उत्तम ऊँचे दर्जे के स्थान हैं, अर्थात् उत्तम से उत्तम देश है, वहाँ काल अवश्य रहेगा। काल-विहीन देश रह नहीं सकता। देश काल दोनों संग-संग रहते हैं। देश काल के अन्दर रहने वाला उत्तम से उत्तम शरीर धारी पुरुष हो, फिर भी मायामय है। इसमें परम कल्याण नहीं मिल सकता। देश कालातीत पद में आरोहण हो, तभी वह दर्शन होगा, जिसको परमात्म-दर्शन कहते हैं। जहाँ माया का लेशमात्र भी नहीं है। गो० तुलसी दास जी ने ईश्वर को सर्वव्यापी और अचर चर रूप बताया है।

"ऐसी आरती राम की करहिं मन।
हरन दुख द्वन्द्व गोविन्द आनंद घन॥
अचर चर रूप हरि सर्व गत सर्वदा।
वसत इति वासना धूप दीजै॥"

फिर कहते हैं—

"अशुभ शुभ कर्म घृत पूर्ण दश वर्त्तिका,
त्याग पावक सतोगुण प्रकाशं।
भक्ति वैराग्य विज्ञान दीपावली,
अर्पि निराजनं जग निवासं॥"

यह आवरणों को उतारने का यत्न है। इन्द्रियों में चेतनधार है—दशों इन्द्रियों में चेतन धाराएँ हैं, तभी इन्द्रियाँ काम करती हैं। जिन केन्द्रों से ये धाराएँ निकलती हैं, उनमें उन्हें केन्द्रित करो तो चेतन धाराओं का इन्द्रियों के गोलकों से इस भाँति के त्याग में ब्रह्माग्नि प्रज्वलित होती है। यह स्थान सुषुम्ना है, यहाँ सतोगुणी प्रकाश होता है। जो इसका साधन करता है—उसीका आवरण दूर होता है, घूंघट-पट खुलता है। धुलते-धुलते काया रूप पाँचों कपड़े उसके धुल जाते हैं। वही अन्त में परमात्मा का दर्शन पाता है। तुलसी दास जी आगे कहते हैं कि—

"विमल हृदि भवन कृत शान्ति पर्यंक,
शुभ शयन विश्राम श्री राम राया।
क्षमा करुणा प्रमुख तत्र परिचारिका,
यत्र हरि तत्र नहिं भेद माया॥"

उसके हृदय रूप मन्दिर में शान्ति रूप पलंग लग जाता है और श्री राम उस पलंग पर शयन करते हैं। वहाँ श्री राम की सेवा के लिये क्षमा और दया दो प्रमुख दासियां बन जाती हैं। जहाँ उपरोक्त रीति से राम रहेंगे वहाँ द्वैत उत्पन्न करने वाली माया नहीं रहेगा। तुलसी दास जी कहते हैं—यह मेरी नई बात नहीं है। यह आरती सभी करते हैं।

"आरती निरत सनकादि श्रुति शेष
शिव देव ऋषि अखिल मुनि तत्व दरसी।
जो करइ सो तरइ परिहरइ काम सब
वदत इति अमल मति दास तुलसी॥"

संत दादू दयाल जी इसी बात को दूसरी तरह से कहते हैं-

"नाके राम कहतु है बपुरा।
घर माहैं घर निर्मल राखै, पंचौं धोवै काया कपरा॥
सहज समरण सुमिरण सेवा, तिरवेणी तट सँयम सपरा।
सुन्दरि सन्मुख जागरण लागा, तहँ मोहन मेरा मन पकरा।
विन रसना मोहन गुण गावै, नाना वाणी अनभै अपरा।
दादू अनहद ऐसें कहिये, भगति तत्त यह मारग सकरा॥

सँयम—मनोनिग्रह, इन्द्रिय-निग्रह। शम-यम को संयम कहा है। परमात्मा को यही प्रसाद अर्पण करने कहा। यदि ऐसा करोगे तो सुरत जगेगी अर्थात् तुरीय अवस्था में हो जायगी। तब वह परमात्मा की ओर से पकड़ ली जायगी। वह नाना प्रकार की ध्वनियों को सुनेगा। इसी को कबीर

साहब ने कहा–" बाजत अनहद ढोल रे। "

सभी संतों की एक ही बात है। इस तरह ईश्वर-प्राप्ति के लिये यत्न करना होगा। यह यत्न ऐसा नहीं है कि किसी से नहीं हो। हाँ, जो पापाचारी है, उससे नहीं होगा। जो कोई साधन में जितना विशेष मेहनत करता है, उसको उतना ही जल्दी प्राप्त होता है। किन्तु जो वस्तु जितने विशेष मूल्य का होता है, उसके लिये उतना ही विशेष परिश्रम करना होता है। और विशेष समय भी लगता है। किन्तु थोड़ा-थोड़ा सबको अभ्यास करना चाहिये, अभ्यास करते-करते होगा। जल्दी करने वाले, उकतानें वाले से नहीं होगा। जो बिना अटक के चलता है, आशा से डोलता नहीं है, वह प्राप्त कर ही लेता है, इसमें संशय नहीं।

(Slow and steady wins the Race.)

" रामा रस रामो सुनि मन भीजै।
हरि हरि नाम अमृत रस मीठा, गुरमति सहिजै पीजै।
कासट महि जिउ है वैसंतरु, मथि संजमि काढ़ि कढ़ीजै।
राम नाम है जोति सबाई, तनु गुरमति काढ़ि लईजै।
नउ दरवाजे नवै दर फाके रसु अमृत दसवै चुईजै।
कृपा कृपा किरपा करि पियारे गुर सबदी हरि रसु पीजै॥
काइआ नगरु, नगरु, है नीको विचि सउदा हरि रसु कीजै।
रतन लाल अमोल अमोलक सतिगुर सेवा लीजै॥
सतिगुर अगम अगम है ठाकुर भरि सागर भगति करीजै।
कृपा कृपा करि दीन हम सारिंग इक बूंद नाम मुखि दीजै
लालनु लालु लालु है रंगनु मनु रंगन कउ गुर दीजै।
राम राम राम रंगि राते रस रसिक गटकि नत पीजै॥
बसुधा सपत दीप है सागर कढ़ि कंचनु काढ़ि धरीजै।
मेरे ठाकुर के जन इन्ह न बाछहि हरि मागहि हरि रस दीजै॥
साकत नर प्राणी सद भूखे नित भूखन भूख करीजै।
धावत धाइ धावहि प्रीति माइआ लख कोसन कउ बिखि दीजै
हरि हरि हरि हरि हरिजन उत्तम किआ उपमा तिनकी कीजै
राम नाम तुलि अवरु न उपमा जन नानक कृपा करीजै॥

अर्थात् राम में रमो और रागध्वनि सुनकर मनको भिगा लो।

" कासट महि जिउ है वैसंतरु मथि संजमि काढ़ि कढ़ीजै।
राम नाम है ज्योति सबाई ततु गुरमति काढ़ि लईजै॥ "

यही राम नाम है, स्फोट है, अनहद नाद है।

" नव दरवाजे नवे दर फाके रस अमृत दसवें चुईजै।"

दशवें द्वार में अपने को ठहराओ, यही दादू दयाल जी का 'तिरवेणी तट' है। भक्त का लक्षण बतलाते हैं–

" वसुधा सपत दीप है सागर, मथिकंचन काढ़ि धरीजै।
मेरे ठाकुर के जन इनहूं न वांछहिं हरि मांगहि हरि रस दीजै "

वह हरि से हरि का रस-नाम-रस मांगता है। जो भक्त नहीं है, केवल भौतिकवादी है,

" वह साकत नर प्राणी सद भूखे,
नित भूखन भूख करीजै।
धावत धाइ धावहिं प्रीति माइआ,
लख कोसन कउ बिखि दीजै॥ "

गुरु नानक देवजी हरिजन की उपमा हरि से देते हैं।

तुलसी साहब कहते हैं कि यदि तुम ईश्वर का दर्शन चाहते हो तो पिण्डी चेतन धारा को ब्रह्माण्डी चेतन धारा से मिलाओ।

" आली अवर धार निहार निज के निकरि सिखर चढ़ावहीं।
जहाँ गगन गंगा सुरत यमुना जतन धार बहावहीं॥
जहाँ पदम प्रेम प्रयाग सुरसरि धुर गुरु गति गावहीं।
जहाँ सन्त आस विलास वेनी विमल अजब अन्हावहीं॥
कृत कुमति काग सुभाग कलिमल कर्म धोई बहावहीं।
हिये हेरि हरष निहार घर को, पार हँस कहावहीं॥
मिलि तूल मूल अतूल स्वामी धाम अविचल बसि रही।
आली आदि अन्त विचारि पदको तुलसी तब पिउ की भई॥

तुलसी साहब कहते हैं कि मैंने आदि अन्त को पार कर अपने को प्रभु में लगा दिया। राधा स्वामी साहब कहते हैं—

(शेषांश पृष्ठ १२ पर)

ईश्वर-प्राप्ति का सरल और सीधा मार्ग

—महावीर 'संतसेवी'

आस्तिक बुद्धि के लोग सदा लालायित रहते हैं कि त्वरित परमात्म-दर्शन हो और इसके लिये वे यथासाध्य चेष्टाएँ भी किया करते हैं। किंतु संतसद्गुरु द्वारा निर्देशित मार्ग से अनभिज्ञ रह कर अज्ञानान्धकार में यत्र-तत्र भटकते फिरते हैं और इस अज्ञानता की अमानिशीथ में वे अनात्मा को ही आत्मा मान बैठते हैं, जिससे अपना परम कल्याण नहीं हो पाता। अतएव भ्रष्ट-पथ-गामिन को सन्मार्ग प्रदर्शित करनेवाले संत-सद्गुरु की कितनी नितान्त आवश्यकता है, उसे संतों की निम्नलिखित वाणियों में पढ़िये—

" बिन सतगुरु नर रहत भुलाना।
खोजत फिरत राह नहिं जाना॥"
बिन गुरु ज्ञान नाम ना पइहौ मिरथा जनम गँवाई हो॥"

" बिन सतगुरु उपदेश सुर नर मुनि नहिं निस्तरै।
ब्रह्मा विष्णु महेश, और सकल जिव को गनै॥"

—कबीर साहब।

" बिन सतगुरु भेटे महा गरबि गुबारि।
नानक बिन सतगुरु सूझा जनम हारि॥"

—गुरु नानकदेव जी।

" गुरु बिनु भव निधि तरइ न कोई।
जौं विरंचि शंकर सम होई॥"
" बिनु गुरु होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ विराग बिनु।
गावहिं वेद पुराण, सुख कि लहिय हरि भगति बिनु॥"

—गो० तुलसीदास जी।

सन् १९३३ ई० का एक प्रसंग है। उस समय प्रातःस्मरणीय श्री श्री १०८ स्वामी मेंहीं दास जी महाराज भागलपुर (बिहार) के जाह्नवी-कूलस्थ कुप्पा-घाट-गुहा में निवास करते थे। एक दिन एक मुसलमान सज्जन वहाँ आये और पूज्य श्री स्वामी जी महाराज से कुछकाल पारमार्थिक बातचीत करते रहे। श्री स्वामी जी महाराज ने उनके बोधार्थ पूछने की कृपा की कि पैगम्बर मुहम्मद साहब जो कि खुदा को प्राप्त करने का सरल और सीधा मार्ग बताने आये थे, वह कौन-सा मार्ग है? उक्त सज्जन ने कहा, वह मार्ग है—रोजा, नमाज, ज़कात और हज। पुनः श्री स्वामी जी महाराज ने कहने की कृपा की कि—रोजा, व्रत वा उपवास को, नमाज, प्रार्थना वा स्तुति को, जकात, दान वा खैरात को और हज, काबे के दर्शन के लिये मक्का जाने को कहते हैं। व्रत वा उपवास से शारीरिक शुद्धि होती है और विषय मन्द पड़ते हैं। श्री मद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में लिखा है—

"विषया विनिवर्तंते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते॥ ५९॥"

प्रार्थना वा स्तुति से खुदा (परमेश्वर) के प्रति श्रद्धा होती है, दान देने से आसक्ति घटती है और मक्का में जाकर नमाज पढ़ने से चित्त की शुद्धि होती है; ये मार्ग कैसे हुए? उक्त सज्जन ने नम्रता पूर्वक कहा—हजरत! मैं तो आजतक इन्हीं (रोजा, नमाज, जकात और हज) को रास्ता समझता आया हूँ। अगर इसके अलावा कोई और राह है तो फरमाने की मेहरबानी की जाय। "पर उपकार वचन मन काया। संत सहज सुभाव खगराया।" को चरितार्थ करते हुए श्री स्वामी जी महाराज ने उन्हें समझाने की कृपा की— आज एक भ्रान्ति-सी फैल गयी है, जिससे वैदिक धर्मावलम्बी कतिपय सज्जन भी

ज्ञान, भक्ति, प्रेम आदि को मार्ग घोषित कर कई मार्ग बतलाने लग गये हैं। किन्तु यथार्थ में ये मार्ग नहीं, ये तो सहारे मात्र हैं। जैसे किसी पथ पर चलने के लिये निर्बल पथिक को उसकी लाठी।

रास्ता, मार्ग, राह वा पथ उस लकीर को कहते हैं जिसके लीर का आरम्भ एक स्थान से होकर दूसरे स्थान पर समाप्ति होती है और बीच में फासला यानी दूरी होती है। यथार्थतः जिस पर चला जाय वह मार्ग है। मुहम्मद साहब द्वारा निर्देशित मार्ग बाह्य जगत में नहीं, वह तो आप के, मेरे और सब के अंदर-अंदर मौजूद है। इस मार्ग पर चलने के सभी अधिकारी हैं, चाहे वे हिन्दू (भारतीय आर्य), मुसलमान, इसाई, मुसाई, बौद्ध, जैन, पारसी, स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि कोई भी— किसी भी जाति वा धर्म के हों। मुहम्मद साहब खुदा को प्राप्त करने का मार्ग बतलाने आये थे जो बिल्कुल सरल और सीधा है। और वह है— अभ्यान्तरिक निरापद मार्ग, न कि बाह्य जागतिक कंटकाकीर्ण उलझनपूर्ण सापद मार्ग।

"होगा फजल दर्गाह तक खौफ ओ खतर की जा नहीं।
सीधे चला जाना वहाँ मुर्शद ने ये फतवा दिया॥
मनसूर सरमद चू अली औ शम्श मौलाना हुए।
पहुंचे सभी इस राह से जिसने कि दिल पुख्ता किया॥"
—तुलसी साहब

यह सभी जानते हैं कि खुदा दिल-दिल में रहते हैं। इसीलिये तो किसी कवि ने कहा भी है—

"बेहोशिये इन्सान से यह खयाल जुदा है।
जाहिर में है महम्मद बातिन में खुदा है॥"

और भी—

"निकट निरंजन नूर जहूर जुहारिये।
मीनी मारग खोजि सिन्धु यूं फारिये॥"
—गरीबदास जी

"नहिं जाइ दूर हजूर साहब फूलि सब तन में रह्यो।
अमर अछय सदा जुगन जुग जक्त दीपक उगि रह्यो॥"
—केशवदास जी।

"है नेरे सूझत नहीं, ल्यानत ऐसी जिन्द।
तुलसी या संसार को, भयो मोतियाबिन्द॥"
—तुलसीदास जी।

'घट-घट अंतरि ब्रह्म लुकाइआ, घटि-घटि जोति सबाई॥'
—गुरु नानकदेव जी।

"अस प्रभु हृदय अछत अविकारी।
सकल जीव भये दीन दुखारी॥" —तुलसीदास जी।

परमात्मा के निकट रहते हुए भी अज्ञजन मूढ़ मृगवत् उसे यत्रतत्र ढूंढ़ते फिरते हैं। संतों से यह देखा न गया, उन्होंने स्पष्ट शब्दों में उसकी आलोचना करते हुए अपने ज्ञानालोक में सन्मार्ग का प्रदर्शन कराया।

'जौं कुरंग निज अंग रुचिर मद अति मति नहीं मरम नहिं पायो।
खोजत गिरि तरु लता भूमि बिल परम सुगंध कहाँ ते आयो॥'
—विनय पत्रिका।

'कोई दौड़ द्वारिका, कोई काशी जाहिं।
कोई मथुरा कौं चलै, साहिब घटही माहिं॥'
—संत दादूदयाल जी।

'कोउक जात प्रयाग बनारस, कोउ गया जगनाथहिं धावै।
कोउ मथुरा बदरी हरिद्वार सु, कोउ गंगा कुरुक्षेत्र नहावै॥
कोउक पुष्कर ह्वै पँच तीरथ, दौड़िहि दौड़ि जु द्वारका जावै।
सुन्दर चित्त गड़ यो घर माहिं, सु बाहिर ढूंढ़त क्यूं करि पावै॥'
—सुन्दर दास जी।

'काहू लै पाहन पूजि धरो सिर काहुलै लिंगु गरे लटकाइउ।
काहू लखि ऊंहरि अवाची दिशा महँ काहू पछाह को शीश निवाइउ॥
कोऊ वुतान को पूजत है पसु कोउ मृतान कउ पूजन धाइउ।
कूर क्रिया उरझिउ सबही जगु श्री भगवान को भेद न पाइउ॥'
पातिसाही १०। —गुरु नानक।

स्पष्टवादी संत कबीर की भी साखी सुन लीजिये, वे कहते हैं यदि तुम्हारा दिल स्थिर नहीं है, तुम्हें सब्र या सन्तोष नहीं है तो काबे के दर्शन के लिये मक्का जाने से भी खुदा नहीं मिल सकते।

"सेख सबूरी बाहरा, क्या हज काबे जाय।
जाका दिल साबत नहीं, ताको कहाँ खुदाय॥"

—संत कबीर साहब।

संत-महात्मा, पीर-पैगम्बर आदि सभी ने एक स्वर से कहा है कि वह खुदा अपने अंदर सातवें आसमान वा चौदहवें तबक में रहता है। उसे हवासों (इन्द्रियों) के जरिये हासिल नहीं कर सकते। उसे प्राप्त या ग्रहण करने के लिये रूह (चेतन आत्मा) ही काबिल है। क्योंकि हवासों के जरिये जो हासिल होता है वह माद्दा (माया) है और जो केवल रूह की पकड़ में आवे वह खुदा (निर्मायिक तत्व-परमात्मा) है। इसलिये वह तरीका अख्तियार कर उस पर अमल करना चाहिये जिससे रूह का मेराज (सूरत की ऊर्ध्वगति) हो।

"रूह करे मेराज कुफ्र का खोलि कुलावा।
तासों रोजा रहे अंदर में सात रिकाबा॥"

संत पलटू साहब के वचन में पूरे तफसील के साथ पढ़िये—

"साहब साहब क्या करे साहब तेरे पास॥ टेक॥
साहब तेरे पास याद करु होवे हाजिर।
अंदर धँसि के देखु मिलेगा साहब नादिर॥
मान मनी हो फना नूर तब नजर में आवे।
बुरका डारे टारि खुदा बाखुद दिखरावे॥
रूह करे मेराज कुफ्र का खोलि कुलावा।
तीसों रोजा रहे अन्दर में सात रिकाबा॥
ला मकान में ख्व को पावे पलटू दास।
साहब साहब क्या करे साहब तेरे पास॥"

जब यह निश्चित हो गया कि खुदा अपने अंदर सातवें रिकाबे वा चौदहवें तबक में रहता है और रूह भी इस जिस्म (शरीर) में है; तो इसका भी पता लगाना चाहिये कि जिस्म के अन्दर रूह कहाँ है? क्योंकि खुदा से मिलने के काबिल रूहे पाक (निर्मल चेतन) ही है। यही उससे मिल सकता है, उसे छू सकता है और दूसरा कोई नहीं।

यहाँ एक बात का खुलासा (स्पष्ट) कर देना अच्छा होगा कि मौजूदा हालत (वर्त्तमानावस्था) में रूह और मन—इन दोनों का ऐसा संग है जैसे घी और दूध का। जबतक दूध बिलोया नहीं जाता, घृत उससे जुदा (पृथक—भिन्न) नहीं होता। जहाँ दुग्ध रहता है वहीं घृत। ठीक इसी भाँति वर्त्तमान काल में जहाँ मन है वहीं रूह है। इसलिये पहले मन का पता लगाना चाहिये कि वह कहाँ है? संत कबीर कहते हैं—

"इस तन में मन कहाँ बसै, निकसि जाय कहि ठौर।
गुरु गम है तो परखि ले, नातर कर गुरु और॥"

इसके उत्तर में संत कबीर साहब के अतिरिक्त अन्य संतों के वचन भी द्रष्टव्य हैं और श्रवण-मनन करने योग्य हैं।

नैनों माहीं मन बसै, निकसि जाय नौ ठौर।
गुरु गम भेद बताइया, सब सन्तन्ह सिर मोर॥

—संत कबीर।

"जानि ले जानि ले सत पहिचानि ले
सुरत साँची बसे दीद दाना।
खोलो कपाट यह बाट सहजै मिलै
पलक परवीन दिव दृष्टि ताना॥"

—वरिया साहब (बिहारी)।

"जाग्रत बासा नैन में, स्वप्न कंठ स्थान।

जान सुषुप्ति हृदय में, नाभि तुरिय मन ज्ञान ॥"

—चरण दास जी ।

संतवाणी से बिल्कुल मिलते-जुलते वचन को उपनिषद्-वाणी में पढ़िये—

"नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत् ।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम् ॥"

—ब्रह्मोपनिषद् ।

उपर्युक्त संतवाणी के व्यतिरिक्त तर्क की कसौटी पर कसकर भी आप इसे देख सकते हैं। इस विचार को कोई नामंजूर (अस्वीकार) नहीं कर सकते कि इस जिस्म के अन्दर रूह—चेतन—वा स्वयं अपना 'आप' है। अब प्रश्न होगा कि जिस्म के अन्दर 'आप' हैं, तो कहाँ हैं? अन्तर्कारावलोकन करने के लिये बाह्यावलोकन का सर्वथा त्याग करना होगा। इसलिये चश्म (नेत्र) बन्द कर भीतर देखिये, क्या है? अन्धकार! घोर अन्धकार!! पुनः प्रश्नोदय होगा कि यह अन्धकार कहाँ है? उत्तर होगा— नयनाकाश में। बस, इसी नयनाकाश में आपका बासा है और आप नयनाकाश के घोर अन्धकार में अहर्निश घूमते रहते हैं। अन्धकार में रहने के कारण ही आप को कुछ अवलोकित नहीं होता। यहाँ तक कि इस प्रत्यक्षान्धकार की अमानिशीथ में आप को स्वयं अपने का भी अपरोक्षानुभव नहीं हो पाता फिर परमात्मा के लिये तो कहना ही क्या है? संत कबीर कहते हैं!—

"देख माया को रूप तिमिर आगे फिरै ।
तेरी भक्ति गई बढ़ि दूर जीव कैसे तरै ॥"

और संत बुल्ला साहब के वचन में पढ़िये—

"श्याम घटा घन घेरि चहुँदिशि आइया ।"

इसका स्पष्टीकरण श्री स्वामी जी महाराज ने कितने अच्छे ढंग से किया है—

"तू उतरि पड़ यो तम माहिं पीव निःशब्द में ।
यहि तें पड़ि गयो दूरि चलो निःशब्द में ॥"

यह सर्वसम्मत सिद्ध बात है कि जो जहाँ बैठा रहता है वह वहीं से यात्रा करता है। ऊपर के वर्णनानुसार जीवात्मा का बास आँख में वा नयनाकाश में रहने के कारण इसी स्थान से यात्रा करनी उसके लिये अत्यन्त अपेक्षित है। इसीलिये तो—

"नयन कँवल तम माँझ से पंथहि धारिये ।
सुनि धुनि जोति निहारिके पंथ सिधारिये ॥"

—श्री स्वामी जी महाराज ।

और संत तुलसी साहब कहते हैं—

हिय नैन सैन सुचैन सुन्दरि साजि श्रुति पिउ पै चली ।
गिरि गवन गोह गुहारि मारग चढ़त गढ़ गगनागली ॥"
"सखी ऐन सूरति पैन पावै नील चढ़ि निर्मल भई ।
जब दीप सीप सुधारि सजि कै पछिम पट पद में गई ॥"

'पछिमपट' अर्थात् प्रकाश-मण्डल। सागिल(अभ्यासी) मुर्शदे कामिल (पूरे गुरु) से एक सूई दिल (मन की एकाग्रता) का राज (गुप्त रहस्य, भेद) पाकर सगलेनसीरा (दृष्टि-साधन) का सगल (अभ्यास) करता हुआ अंधकार को पार कर नूरे खुदा (ब्रह्मज्योति) को पाता है। वहाँ वह नाना प्रकार की ज्योतियों का अवलोकन करता हुआ प्रकाशपुञ्ज को पाकर अत्यन्ताह्लादित होता है। एक कवि ने कहा है—

"जिगर वह हुस्न एक सूई का मंजर याद है अबतक ।
निगाहों का सिमटना और हुजूमे नूर हो जाना ॥"

—जिगर ।

अब एक साधक का स्वानुभव बचन भी पढ़िये—'कल्याण', साधनाङ्क, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४६६ में अमीर खुसरो का बचन है— "सुनिये मैंने भी उन महापुरुष जगद्गुरु भगवान् श्री स्वामी रामानन्द का

दर्शन किया है। अपने गुरु ख्वाजा साहब की तरफ से मैं तोहफए-बेनजीर लेकर पंचगंगा घाट पर गया था। ...स्वामी जी ने दाद दी थी और मुझ पर जो मेह (कृपा) हुई थी, उससे फौरन मेरे दिल की सफाई हो गयी थी और खुदा का नूर झलक गया था।"

इसके बाद अभ्यासी की सुरत उस ब्रह्मज्योति से भी निष्क्रमण करने के लिये अथवा यूं समझिये कि अपने ऊपर से प्रकाशावरण हटाने के लिये परमात्मा से इस भाँति प्रार्थना करती है—

"हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्न पावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥"

—ईशावास्योपनिषद्।

रूह केवल प्रार्थना ही नहीं करती बल्कि सगले नसीरा- दृष्टिसाधन- की क्रिया से समन्वित हो वह प्रकाश मण्डल का सैर करती हुई अन्तरध्वनि- ब्रह्मनाद- आवाजेगैब को भी सुनती है। अभ्यासी को सगले नसीरा के बाद सुलतान उलजकार (नादानुसंधान) का अमल (अभ्यास) करना होता है। नाद बिन्दूपनिषद् में इसकी विधि इस तरह लिखी है—

"सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय वैष्णवीम्।
शृणुयादक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा॥ ३९॥

अर्थात्, सिद्धासन में स्थित होकर वैष्णवी मुद्रा (दृष्टि-साधन) का अभ्यास करते हुए योगी दाहिने कान से अन्तरी नाद सदा सुने।

गुरु नानकदेव जी कहते हैं—

"सुखमन कै घरि रागु सुनि सुन मंडल लिवलाइ।
अकथ कथा वीचारिऐ मनसा मनहि समाइ॥"

और तुलसी साहब के वचनों में सुनिये—

"सुन ला मकां * पै पहुँच के तेरी पुकार है।
है आ रही सदा † से सदा ‡ यार देखना॥"

* शून्य भवन। † हमेशा। ‡ शब्द।

"कुदरती काबे के तू मेहराब में सुन गौर से।
आ रही धुर से सदा तेरे बुलाने के लिये॥"

महामहोपाध्याय आचार्य श्री गोपीनाथ जी कविराज, एम० ए० ने लिखा है— "जिस समय गुरु-कृपा से तथा क्रिया-विशेष के द्वारा सुषुम्ना-मार्ग उन्मुक्त होता है, उस समय प्राण स्थिर और सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त होकर उसमें प्रविष्ट होता है और उस शून्य पथ से अनाहत ध्वनि का अनुसरण करते-करते मन क्रमशः निर्मल और शान्त अवस्था को प्राप्त करता है। जब मन पूर्ण स्थिर हो जाता है तब फिर नादध्वनि नहीं सुनाई पड़ती।

नाद बिन्दूपनिषद् में लिखा है—

"ब्रह्म प्रणव संलग्ननादो ज्योतिर्मयात्मकः।
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्॥४६॥
तावदाकाश संकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते।
निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मा समीयते॥ ४७॥"

अर्थात्, प्रणव से उत्थित नाद जो ब्रह्म है, चेतनस्वरूप (ज्योतिर्मय) है, उसमें मन लीन हो जाता है और वही विष्णु का परम पद है॥ ४६॥ जबतक आकाश संकल्प है तबतक नाद की स्थिति रहती है। उसके परे अशब्द परब्रह्म परमात्मा है॥ ४७॥

श्री स्वामी जी महाराज के वचनों में दृष्टियोग और सुरत शब्दयोग का संकेत इस भाँति मिलता है—

"ब्रह्मज्योति ब्रह्मध्वनि को धर-धर ले चेतन आधार।
तन में पिल पाँचों तन पारा जा पाओ प्रभु सार॥"

सुषुम्ना मार्ग उन्मुक्त कैसे होगा, ब्रह्मज्योति तथा ब्रह्मनाद की अनुभूति कैसे होगी, परमात्म दर्शन कैसे होगा, गुरु कैसा होना चाहिये और शिष्य कैसा होना चाहिए आदि सारी बातें तुलसी साहब के वचनों में पढ़िये—

(शेषांश पृष्ठ १२ पर)

"नाम-रूप दुइ ईश उपाधी अकथ अनादि सुसामुझि साधी"

दर्शनाचार्य शंकर जी ने तीन सत्ताओं की चर्चा की है। वे निम्नलिखित हैं —

(१) व्यावहारिक सत्ता।

(२) प्रातिभासिक सत्ता।

और (३) पारमार्थिक सत्ता।

शंकर का कथन है कि यह व्यक्त जगत नाम-रूपात्मक है। यहाँ प्रत्येक वस्तु का नाम और रूप है। कोई भी वस्तु तत्वतः क्या है, यह उसके नाम और रूप से ज्ञात नहीं होता है। नाम और रूप व्यावहारिक सत्तागत चीजें हैं। अव्यक्त, विकार-हीन, ध्रुव किन्तु गतिशील एक तत्व है, जिसे व्यावहारिक सत्ता कहते हैं। यह व्यक्त, इन्द्रियगोचर नामरूपात्मक जगत उसी का प्रतिफल है। यहाँ नाम और रूप से किसी भी वस्तु का असली पता नहीं चलता है। तो असली पते की बात फिर शंकर ने यूं कही कि नाम और रूप से युक्त यह व्यक्त जगत एक विवर्त है— आभास है— प्रतीति मात्र (appearance) है। उदाहरण देते हुए उन्होंने बतलाया— "रज्जौ तथाहेर्भ्रमः" अर्थात, जिस प्रकार रस्सी में साँप का भ्रम हो जाता है, वैसे ही यह संसार एक भ्रम है। यही प्रातिभासिकसत्ता है। जिस संसार को हम देखते हैं, वह वस्तुतः है नहीं— एक प्रतीति (appearanee) है— इसे प्रमाणित करने के लिये शंकर ने स्वप्न-जगत को उदाहरणस्वरूप रखा। उन्होंने बताया कि स्वप्न की दुनिया का राजा जाग्रत अवस्था में राजा नहीं रह पाता है। स्वप्न की दुनिया के राजा का राज्य और राज्य-जन्य उसके आनन्द— सभी एक भ्रम हैं, जो जागने पर स्पष्ट हो जाता है। सूरदास जी महाराज ने भी इसी को इस प्रकार कहा है—

"सपने माहिं नारि को भ्रम भयो,
बालक कहूं हिरायो।
जागि लख्यो ज्यों को त्यों ही है,
ना कहुँ गयो न आयो॥"

ठीक ऐसे ही यह नाम एवं रूप से युक्त संसार स्वप्न का भ्रम है। जागने पर अर्थात् परे से परे की दृष्टि प्राप्त हो जाने पर संसार की यथार्थता स्पष्ट हो जाती है— "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥"

—महोपनिषद्।

बौद्धिक दृष्टिकोण से तर्क के बल पर जब हम नाम-रूप से परे की वस्तु को ग्रहण करना चाहते हैं,

श्री महेश्वर, बी० ए०

तो हमारी भाषा मूक हो जाती है। इतना ही क्यों, हमारा चिंतन भी सिहर उठता है। यदि नाम-रूप से परे की वस्तु को हम सत् या असत् की संज्ञा से अभिहित करते हैं, तब भी वह नाम और रूप की ही परिधि में चली आती है। तो फिर उसे क्या कहा जाय? तब तो उसे हम 'अनिर्वचनीय' कहने के अतिरिक्त कुछ नहीं कह सकते हैं। तभी तो उपनिषद् ने भी उसे 'नेति-नेति' कहकर पुकारा है तथा संतों ने उसे 'निर्गुण' 'निरंजन' आदि कहकर। यूँ यदि

देखा जाय, तो 'निर्गुण' शब्द भी उस नाम-रूप से परे की वस्तु के लिये उपयुक्त नहीं है। कारण, जो गुणों (सत्, रज और तम) से मुक्त हो, वही निर्गुण है। यहाँ यह स्पष्ट है कि एक कोई है जो गुणों को धारण करता है। तो एक गुण और दूसरा वह जो उसको धारण करता है। जो गुणों को धारण करता है वह सगुण कहलाता है और जो गुणों को धारण नहीं करता, वह निर्गुण है। इस तरह 'निर्गुण' भी नाम-रूप के घेरे में ही आ जाता है। तभी तो संत कबीर साहब ने कहा है— "निरगुन सरगुन के परे,

तहँ हमारा ध्यान।"

और बिहार के एक प्रसिद्ध संत स्वामी 'मेंहीं' दासजी महाराज ने भी कहा है—

"निर्गुण सगुण के पार में, सत् असत् हू के पार में ···॥

वह नाम-रूप से परे का (ब्रह्म) न निर्गुण है, न सगुण, न सत् है, न असत्। संतों ने उसे 'निरंजन' कहा है। अंजन का अर्थ होता है चिह्न, रूप आदि। जो चिह्न

(पृष्ठ ५ का शेषांश)

" सुरत क्यों भूल रही, अब चेत चलो स्वामी पास ॥टेक

हे मनुवाँ तुम सदा के संगी, त्यागो जगत की आस।

हे इन्द्रियन तुम भोग दिवाणो, क्यों फंसो काल की फाँस।

जल्दी से अब मुख को मोड़ो, अन्तर अजब विलास।

जैसे बने तैसे करी कमाई, धर चरणन विश्वास॥

राधा स्वामी दीन दयाल, दै हैं अगम निवास।

तब सुख साथ रहो घर अपने, फिर होय न तन में बास॥

सुरत को बाहर से भीतर समेटो, नौ दरवाजे से दशवें दरवाजे में समेटो तो आवागमन से छूट जाओगे।

इस अन्तर-भक्ति के लिये भी जानकारी चाहिये। इस सत्संग के द्वारा इसी भक्ति का प्रचार होता है। इसमें यह नहीं कहा जाता कि बाहर की भक्ति से इसको सरोकार नहीं है। यह 'सत्संग' भी बाहरी भक्ति है। जब तक सत्संग नहीं करे तब तक इस विषय को कोई कैसे जान सकता है? पूजा, पाठ और जप लोग करते हैं, इससे मन में एकाग्रता होती है। एकाग्रता होने से फिर वह सूक्ष्म-भक्ति की ओर जाता है। भीतर में चलने की भक्ति, परमात्मा को पाने की भक्ति का मरम जानो और करो। यदि केवल मोटी भक्ति में लगे रहे, तो वह उसमें कमी है। ध्यान करने से ज्ञान बढ़ता है। ज्ञान और ध्यान दोनों संग-संग है। अपने को संयम से रखो। बिना संयम के न तो यहां और न वहां सुखी रह सकते। इसलिये लोगों को संयम से रहना चाहिये।

—०—

(पृष्ठ १० का शेषांश)

"क्यों भटकता फिर रहा तू ऐ तलासे यार में।

रास्ता शहरग में है दिलवर पै जाने के लिये॥

मुर्शिदेकामिल† से मिल सिद्क‡ और सबूरी॥ से तकी।

जो तुझे देगा फहम£ शहरग के पाने के लिये।

गोशबातिन❀ हो कुशादा§ जो करे कुछ दिन अमल।

ला इलाह अल्लाह हो अकबर पै जाने के लिये॥

ये सदा तुलसी की है आमिल¶ अमल कर ध्यान दें।

कुल कुरां में है लिखा अल्लाह अकबर के लिये॥"

इस प्रकार उपनिषद् एवं सन्तवाणी के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि दृष्टि-साधन और नादानुसंधान ही परमात्म-प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट मार्ग है और तब यह बेतकल्लुफ (निःसंकोच) कहा जा सकता है कि खुदा को हासिल करने के लिये सगले न सीरा (दृष्टियोग) और सुलतान उलजकार नादानुसंधान ही मुहम्मद साहब का बताया हुआ सरल और सीधा मार्ग है।

* सुषुम्ना। † पूरे गुरु। ‡ सचाई। ॥ सन्तोष। £ समझ। ❀ अन्तरी कान। § खुलना। ¶ अभ्यासी।

अर्थात, नाम-रूप से परे हो, वही 'निरंजन' है, वही 'ब्रह्म' है। निरंजन के सम्बन्ध में संत कबीर साहब ने कहा है—

"....तू निरंजन, तू निरंजन, तू निरंजन राया।
तेरे रूप नाहीं, रेख नाहीं, मुद्रा नाहीं माया॥
समुद नाहीं, सिखर नाहीं, धरती नाहीं गगना।
रवि ससि, दोऊ एकै नाहीं, बहत नाहीं पवना॥
नाद नाहीं, ब्यन्द नाहीं, काल नाहीं काया।
जलते जल ब्यंब न होते तब तू ही राम राया॥"

× × × ×

"अंजन अलख निरंजन सार,
यहै चीन्हि नर करत विचार॥"

संत श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है—

निर्मल निराकार निर्मोहा, नित्य निरंजन सुख सन्दोहा।
प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी, ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥"

तो इस 'निरंजन', या 'ब्रह्म' का ज्ञान नामरूपात्मक जगत से ऊपर उठने पर होगा। संत दरिया साहब ने कहा है—

"माया मुख जागे सभै, सो सूता कर जान।
दरिया जागे ब्रह्म दिसि, सो जागा परमान॥"

और तब माया क्या है? संत श्री गोस्वामी तुलसी दास जी कहते हैं —

"गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानहु भाई॥"

यह नाम रूप से युक्त जगत ही माया है, क्योंकि जहाँ तक नाम और रूप है, वहीं तक तो 'गो गोचर' भी है। तो माया से मुक्त होइए या नाम रूप की परिधि से ऊपर उठिए—बात एक ही है। और ऐसी स्थिति में जब आना हो जायगा तभी संत श्री सुन्दरदास जी महाराज के शब्दों में—

"व्योम को व्योम अनंत अखंडित
आदि न अंत सुमध्य कहाँ है।
को परमाण करै परिपूरन
द्वैत-अद्वैत कछू न जहाँ है॥
कारण-कारज भेद नहीं कुछ
आप में आपहिं आप तहाँ है॥"

ईश्वर के दर्शन हो जायेंगे। या फिर श्री तुलसी दास जी के ही शब्दों में—

"नाम रूप दुइ ईश उपाधी
अकथ अनादि सुसामुझि साधी।"

यह 'अकथ', 'अनादि' या 'आप में आपहि आप तहाँ है' ही पारमार्थिक सत्ता है।

अब बिलकुल स्पष्ट है कि ब्रह्म 'अनादि' है, 'अकथ' है। इस 'अनादि', 'अकथ' ब्रह्म की प्राप्ति कैसे हो या उपर्युक्त 'आप में आपहिं आप तहाँ है' की स्थिति में कैसे पहुँचा जाय? मनुष्य तो नाम-रूपात्मक विश्व का ही प्राणी है। वह इसी जगत के तत्वों को ग्रहण करने में सक्षम हो सकता है। वह कैसे नाम-रूप से परे चलकर अनादि—अकथ ईश्वर 'ब्रह्म' के दर्शन करे?

गोस्वामी श्री तुलसीदास जी कहते हैं—

तीन अवस्था तजहु भजहु भगवन्त।
मन क्रम बचन अगोचर व्यापक व्याप्य अनन्त॥"

वस्तुतः हम नाम-रूप से युक्त जगत में तभी रहते हैं जब कि तीन अवस्थाओं में रहते हैं। तीन अवस्थाएँ ये हैं— (१) जाग्रत।
(२) स्वप्न।
और (३) सुषुप्ति।

उपर्युक्त तीन अवस्थाओं से उन्मुक्ति पाने पर हम नाम-रूप के परिवेश से परे चले जाते हैं और तब तुरीय और फिर तुरियातीतावस्था में पहुँच कर 'मन

क्रम, बचन····· 'अनन्त' 'भगवन्त' के बौद्धिक नहीं, प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं। दर्शनोपरान्त आवागमन के बंधन टूट जाते हैं †। अब यहाँ भी प्रश्न उठता है कि इन तीन अवस्थाओं से मुक्ति की प्राप्ति हो कैसे ?

संतों ने कहा है, अन्तर्मुख बनो—अन्दर-अन्दर चलो तभी तीन अवस्थाओं से मुक्ति मिलेगी। फिर प्रश्न होता है अन्दर-अन्दर चला जाय कैसे ? अन्दर में चलने के लिये चित्त की एकाग्रता अनिवार्य रूप से अवश्य चाहिये। चित्त कहते हैं चैतन्य को। यह चैतन्य हमारी इन्द्रियों के घाटों पर जाल की नाईं बिखरा हुआ है। यह ऐसा है, तभी हमारी इन्द्रियाँ विषयों में रमण करती हैं। इसे शरीर के किसी एक निश्चित स्थान 'भ्रुवोर्मध्ये' (आज्ञाचक्रान्तर्गत शून्य मण्डल) पर खींच लेने से पूर्ण एकाग्रता (एक बिन्दुता) होती है। जब यह चैतन्य बाह्य सभी इन्द्रियों के घाटों पर से खींच लिया जाता है, तो स्वभावतः ही यह अंतर्मुख हो जाता है। यही अंतर्मुख बनना है— अंदर-अंदर चलना है। पुनः यह भी स्वयं सिद्ध है कि सिमटाव में ऊर्ध्वगति होती है। किसी भी चीज को समेटिये, वह ऊपर की ओर उठेगी। जब यह बिखरा हुआ चैतन्य समेटा जाता है, तो निश्चय ही, इसमें ऊर्ध्वगति आती है। ऊर्ध्वगति के कारण तीन अवस्थाओं से ऊपर तुरीय एवं तुरीयातीत अवस्थाओं में अंदर-अंदर जाना भी स्वाभाविक ही है। चित्त की एकाग्रता के लिये 'यम' और 'नियम' के पालन की भी अपेक्षा है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को 'यम' कहते हैं; तथा शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान को 'नियम' कहते हैं। इनके अतिरिक्त भी, मानसजाप, मानसध्यान एवं दृष्टि-साधन जैसी अमोघ युक्तियों की अनिवार्यता। इन सब का यथार्थज्ञान पूरे गुरु के सान्निध्य से प्राप्त किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में महात्मा गान्धी जी ने भी लिखा है— "अक्षर-ज्ञान देनेवाला शिक्षक यदि अधकचरा हो तो एक बार का काम चल सकता है, परन्तु आत्मदर्शन करनेवाले अधूरे शिक्षक से हरगिज काम नहीं चलाया जा सकता है। सफलता गुरु की खोज में ही है।" निश्चय ही, पूरे गुरु न मिलने पर कबीर साहब की ये पंक्तियाँ चरितार्थ हो आवेंगी—

"गरुआ सहित शिष्य सब बूड़ै,
अन्त काल पछताना।"

—०—

† "बाहर में कहीं भी जाने से संसार और तीन अवस्थाओं से नहीं छूट सकते। जो अपने को तुरीयावस्था में ले जाते हैं, वे मरकर भी फिर नहीं मरते।"
—'शान्ति-संदेश', सत्संग सुधा, वर्ष ६, अंक—१।

मैंने बारीकी से आँकड़े एकत्र नहीं किये, पर इतना तो कह ही सकता हूँ कि गाँवों में बैठकर कम-से-कम दस मजूर जितना काम करते हैं उतना ही काम मिल का एक मजूर करता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि दस आदमियों की रोजी छीनकर यह एक आदमी गाँवों में जितना कमाता उससे कहीं अधिक कमा रहा है। इस तरह कताई और बुनाई की मिलों ने गावों के लोगों की जीविका का एक बड़ा भारी साधन छीन लिया। —महात्मा गान्धी

एक प्राचीन लोक कथा

गुरु

श्री आनन्द

यह बहुत पुराने जमाने की बात है। इतना पुराना कि वर्षों के हिसाब से समझना बेकार है।

उस समय महर्षि गौतम नाम के एक महान् संत पृथ्वी पर स्वयं विराजमान थे। उनकी विद्वत्ता एवं शिक्षण-पद्धति के चमत्कार का आकर्षण अति तीव्र था।

इसलिये, उनके द्वारा परिचालित गुरुकुल में विद्यार्थियों की संख्या सब से अधिक थी। तत्कालीन भारत के महान् सम्राटों की यही इच्छा रहती थी कि उनके राजकुमार वहाँ शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करें। सम्भ्रान्त सवर्ण परिवारों के विद्यार्थियों का जमघट रहता था उनके गुरुकुल में।

एक दिन वे बरगद के विशाल वृक्ष के तले विद्यार्थियों को पढ़ा रहे थे कि एक बालक प्रणाम करके बोला—"महाराज! आपकी चरणों की सेवा करने की आज्ञा चाहता हूँ।"

महर्षि ने बालक के वचन तो सुने पर वह साष्टाङ्ग दण्डवत किये पड़ा था इसलिये उसका मुखमण्डल वे देख नहीं सकते थे। कहा उन्होंने—"उठो बालक!"

बालक उठकर खड़ा तो हो गया किन्तु प्रार्थना में उसके दोनों हाथ जुटे रहे।

महर्षि ने देखा, बालक अति सुकुमार है। उम्र भी दस साल के लगभग से ज्यादा नहीं होगी। देखने में वह बालक इतना सुदर्शन था कि उनकी आँखें टिकी रह गयीं। उनकी तीक्ष्ण आँखों ने देखा— बालक को यज्ञोपवीत और मूञ्ज नहीं है।

बालक ने कहा— "महाराज आश्रम के सभी नियमों का विधिवत् पालन करूँगा, आपकी प्रत्येक आज्ञा का पालन सानन्द करूँगा। अपनी शरण में विद्यालाभ करने का सुअवसर दीजिये।"

उधर विद्यार्थियों में हलचल मच गयी। एक ने कहा— "अजी देखो तो! इतना बड़ा हो गया और यज्ञोपवीत तक नहीं!"

दूसरे ने उत्तर दिया—"भाई कोई ऐसा ही कारण होगा जिससे कि इसका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हो सका होगा। किन्तु है तो यह ब्राह्मण ही।"

तीसरे ने कहा— "नहीं, यह शूद्र है, तभी तो इसका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हो सका! इस उम्र के किसी ब्राह्मण कुमार को तुमने बिना यज्ञोपवीत के कहीं और देखा है क्या? मुझे तो रत्ती भर भी शंका नहीं कि यह शूद्र है।"

तभी एक व्याकरण के विद्यार्थी ने कहा—"यह कदापि शूद्र नहीं!"

किसी वेदान्त के विद्यार्थी ने पूछा—"आपके कथन का आधार?"

आधार! "प्राज्ञेतर परिच्छेदं बचसैव करोति या", (मूर्ख और विद्वान् का परिचय जो उनके वचनों से ही करवा देती है) वही सरस्वती। शूद्र की भाषा इतनी परिष्कृत एवं उसका आचार इतना नम्र! 'न भूतो न भविष्यति। न हुआ है और न होगा।"— किसी साहित्य प्रेमी ने कहा।

एक ने उत्तर दिया— "व्यर्थ के शास्त्रार्थ से क्या लाभ? चुपचाप देखो तो सही कि गुरुदेव क्या उत्तर देते हैं?"

इस वार्तालाप के क्रम में विद्यार्थियों का स्वर कुछ ऊंचा हो गया था कि गुरु महाराज की दृष्टि विद्यार्थियों की ओर घूमी। सबके सब शान्त हो गये।

बालक के व्यवहार एवं वाणी से गौतम बहुत प्रसन्न थे। उन्होंने प्यार भरे शब्दों में पूछा— "वत्स! क्या नाम है तेरा? किस गोत्र का है तू? तेरे पिता कहाँ हैं? इतनी छोटी उम्र के बालक को उन्होंने अकेले आश्रम भेजकर बड़ा अन्याय किया है।

बालक ने विनम्र स्वर में कहा— भगवन्! मेरा नामकरण संस्कार अबतक नहीं हुआ है, अतएव नाम बताने में असमर्थ हूँ। गोत्र की जानकारी भी मुझे नहीं है। पूज्यपाद पिता जी को कभी देखा नहीं। अपनी माता जी से पूछकर उत्तर दूँगा।'

"हाँ, वत्स! तुम इन प्रश्नों का उत्तर लेकर आओ, तुम्हें शिक्षा प्राप्त करने का अवसर दूँगा।"

बालक प्रणाम करके चला गया।

कई दिनों के बाद वह पुनः आया। इस बार वह कुछ हतप्रभ-सा था।

आते ही उसने गुरुदेव को प्रणाम किया और फिर बोला— "मेरी माँ मेरा गोत्र नहीं बता सकतीं। पिता का नाम भी उन्होंने नहीं बतलाया। हाँ, मेरी माता का नाम है जबाला। इससे अगर आपका काम चल जाय तो मुझे अपनी शरण में ले लीजिये महाराज।"

बालक के उत्तर से शिष्य-मण्डली में खलबली मच गयी।

किसी ने कहा— "साहस तो देखो इस बालक का! अज्ञात कुल का होकर भी यह इस गुरुकुल में विद्याभ्यास का अभिलाषी है और स्वयं अभ्यर्थना करने चला आया है।"

दूसरे ने कहा— "अभ्यर्थना करने से क्या होगा? गुरुदेव कभी इसको आश्रम में प्रविष्ट नहीं होने देंगे।"

तभी गुरुदेव उठे, उन्होंने उस सुन्दर बालक को गले लगाकर कहा— "मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ बालक। सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं। जिस निष्कपटता से तुमने सभी बातें निःसंकोच कहीं हैं वह मैं कभी नहीं भूल सकता। तुम्हारा नामकरण संस्कार मैं स्वयं करूँगा। ऐसा नाम रखूँगा तुम्हारा जो तुम्हारी सत्यवादिता को प्रकाशित करे। तुम्हारा नाम सत्यकाम रहा और तुम्हारी माता के नाम से ही तुम्हारा कुल अवगत हो, इसलिये तुम 'सत्यकाम जबाल' के नाम से विदित होओगे। मैं तुम्हें ब्राह्मण घोषित करता हूँ। सत्याचरण ब्राह्मण का सर्वप्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य है। तुम सत्य में आरूढ़ हो, इसलिये तुमको ब्राह्मण माना जायगा। मैं स्वयं तुम्हारा यज्ञोपवीत संस्कार पूर्ण करूँगा।'

फिर उन्होंने बालक का यज्ञोपवीत संस्कार विधिवत पूर्ण करवाया।

बालक कृतार्थ हो गया। आश्रम में रहकर विद्याभ्यास करने लगा। गुरुकुल के शिक्षक एवं छात्र सभी उससे प्रसन्न थे। उसकी कुशाग्र बुद्धि विद्या-प्राप्त करने में कभी प्रमाद नहीं बरतती। बहुत शीघ्र ही वह अनेक विद्याओं के अध्ययन में उन्नति करने लगा।

एक दिन आचार्य ने सभी छात्रों की उपस्थिति में कहा— 'एक अत्यधिक कठिन कार्य के लिये एक सुयोग्य विद्यार्थी चाहिये। आश्रम में जो गायें हैं, वे बहुत दुर्बल हो गयी हैं। उनके लिये उत्तम प्रकार का घास यहाँ नहीं मिलता। इसलिये इन चार सौ गौओं को ऐसे स्थान पर ले जाना होगा जहाँ उत्तम घास मिले। इन गायों की नस्लें सुधारनी हैं। एक उत्तम

वृषभ भी इसी कार्य से लाया गया है जो तुमलोगों के सामने है।"

सभी की दृष्टि उस वृषभ पर जा पड़ी। इतना ऊँचा, सुपुष्ट और बलशाली वृषभ उन्होंने पहले नहीं देखा था।

महर्षि बोले—"इन गायों को तबतक चराना पड़ेगा और इनकी देख-रेख करनी पड़ेगी, जबतक इनकी तायदाद चार हजार की न हो जाय। इतने दिनों तक आश्रम से बाहर रहकर इस उत्तरदायित्व को पूरा करनेवाला आगे बढ़े।" सभी विद्यार्थी चुप थे। महर्षि ने अपनी दृष्टि चारो ओर घुमायी, पर कोई आगे बढ़ता नहीं दिखाई पड़ा। तभी लोगों ने देखा कि बालक सत्यकाम जाबाल खड़ा होकर कह रहा है—"महाराज! मैं आपके द्वारा दिये गये उत्तरदायित्व को पूरा करूंगा।" महर्षि ने प्रसन्न होकर कहा "मैं तुम से अत्यधिक प्रसन्न हूँ बालक! मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है। जाओ तुम अवश्य इस कार्य को पूरा करने में सफल होओगे। "इमा या गावः स जनास इन्द्र। —जिसके पास ये गौएँ हैं, वह तो एक प्रकार से इन्द्र ही है।"

सत्यकाम उन गायों के ढोर को लेकर चलता बना। अब उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य हो गया—गोधन की रक्षा और वृद्धि।

अच्छी गोचर भूमि की खोज में वह भटकता रहता। मिल जाने पर वहाँ ढोर को ले जाता। गायें चरती रहतीं और वह हर प्रकार के अस्त्र और शस्त्र के अभ्यास में निरत रहता। हिंसक जीवों से गायों की रक्षा आवश्यक थी। गायों की बीमारियों से भी उसको मोकाबला करना पड़ता। इसलिये नाना प्रकार की जड़ी-बूटियों से वह अवगत हो गया था। धीरे-धीरे उसकी जानकारी इतनी बढ़ गयी कि दूर-दूर के लोग अपनी गायों की बीमारियों की औषधि प्राप्त करने के लिये उसके पास आते। कालान्तर में वह एक प्रकार से इन्द्र हो गया!

गायों के द्वारा प्राप्त होनेवाले विभिन्न प्रकार एवं उपयोगिता की वस्तुओं से वह पूर्णतया परिचित हो गया। उन प्राप्य वस्तुओं की उपयोगिया कैसे बढ़ेगी और उसके लिये किन प्रक्रियाओं को उपकरण बनाना होगा—इन सारे तथ्यों की ऐसी जानकारी हो गयी थी उसको कि जोड़ मिलना कठिन था।

इस तरह काफी धन उसको प्राप्त होता रहता। उस धन को वह गुरु की दक्षिणा के लिये जमा करता जाता।

एक दिन वह महान् आश्चर्य में पड़ गया। उसके सिवा अन्य कोई मानव-संतान उस दिन उसके साथ नहीं था। गायें जंगल में अच्छी घास पाकर सुख से चर रही थीं। वह उस दिन तीर चलाने का अभ्यास कर रहा था।

आज की परिस्थिति उसके अभ्यास की कसौटी थी। बात यह थी कि हवा उस रोज तेज थी। अगर हवा की तेजी एक-सी रहती तब तो कोई दिक्कत की बात नहीं होती। हवा की तेजी घटती-बढ़ती थी। इसलिये तीर के द्वारा लक्ष्यभेदन दुष्कर हो गया था। हवा की तेजी तीर को कितनी दूर ले जाती है इसका अन्दाज चाहिये। यह अन्दाज कभी तो ठीक हो जाता और कभी गड़बड़ हो जाता— तीर निशाने से दूर हो जाता। इसी गहरे अभ्यास की गहराई में वह तैरता और तीर हवा में तैरते जा रहे थे।

तभी उसने आवाज सुनी। गहरी आवाज—

(शेषांश पृष्ठ २१ पर)

कल्प-तरु

—श्यामसुन्दर सहाय

[कल्पतरू की कल्पना के आदि श्रोत तक पहुंचने में लेखक को तत्सम्बन्धी अनेक प्रकाशित एवं अप्रकाशित रचनाओं का मंथन करना पड़ा है। समुद्रमन्थन से जिस रत्न की प्राप्ति हुई है, वह आपके सामने है। लेखक की स्थापना है कि कल्पतरू हमारे अन्दर है बाहर नहीं।]—सम्पादक।

'कल्प तरु की कथा भारतीय-साहित्य में आदि-काल से चली आ रही है। 'कल्पतरु' जैसा नाम है, उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कहीं यह 'कल्पना-तरु' न हो। यदि 'कल्पना-तरु' न भी हो तो कल्पना प्रसूत करने की शक्ति तो इसमें है ही। इस पुरातन वृक्ष की छाया हर युग एवं हर लोक में अपनी शीतलता प्रदान करती रही है। इसकी गाथा सुरलोक, नरलोक एवं नागलोक तक प्रचलित है।

वास्तव में यह 'कल्प-तरु' है क्या? क्या 'नन्दन कानन' का एक अपूर्व वृक्ष! इन्द्र का मनोरथ पूर्ण करनेवाला पारिजात!! यह भी कहा जाता है कि इन्द्र ने इस 'कल्प-वृक्ष' से जो माँगा सो पाया। उसकी मनोकामना पूरी हो गयी। तो फिर इसे क्यों न प्राप्त किया जाय? और आजके युग में—जब कि भौतिक विज्ञान सौर जगत् में नित्य नये करिश्मे दिखा रहा है! आजका विज्ञान पा तो सकता है इसे, पर इसका कोई निश्चित स्थान हो तब तो! यह सत्य है कि स्थूल जगत् में इसका वास नहीं है। 'रॉकेट' या 'सैटे लाईट' तो बाहर-बाहर घूमते हैं। ज्ञानियों का कहना है—यह मानव के हृदय कानन का 'अनुपम शृङ्गार' है, अपूर्व पौरुष प्रदान करनेवाला—अरूप के पर्दे से रूप का भास करानेवाला! जब ऐसी बात है तो क्यों नहीं दो-चार व्यक्तियों की शल्यक्रिया कर इस मनोरम तरु का भेद लिया जाय; तथा मानव कृत 'वनस्पति-शाला' में इसकी फसल पैदा की जाय। जैसे जापान में 'कोकोची' ने मोती की पैदावार का नया राज खोज निकाला। नियति की क्रूरता कहिये या मनुष्य की अज्ञानता अथवा शक्तिहीनता, जो अंधेरे में भटकने पर बिजली का आविष्कारक यह मानव, अपने इन दो चक्षुओं को पाकर भी इस 'प्रकाश-पुञ्ज' को, इस ज्योतिस्वरूप को ठीक-ठीक न देख सका, न ठीक-ठीक समझ सका।

पौराणिक साहित्य में 'कल्प-वृक्ष' के बारे में कहा गया है कि 'समुद्र-मन्थन' के समय जो अनुपम रत्न निकले उसमें एक यह भी है। 'समुद्र-मन्थन, आध्यात्मिक पक्ष में मनुष्य की दैवी और आसुरी वृत्तियों का संघर्ष है। वैदिक साहित्य में मनुष्य का शरीर घट या कलश कहा गया है। मन उसका सर्वश्रेष्ठ अंश है। यही मननात्मक अंश ही उसका दैवी अंश है। साथ-साथ सम्पूर्ण मानव को समुद्रकी संज्ञा दी गयी है। इसी समुद्र का मंथन प्रत्येक मनुष्य के जीवन में चलता रहता है। इसी संघर्ष में उसके विकास का रहस्य छिपा है। संघर्षहीन प्राणी को प्रकृति का जड़ अंश ही समझना चाहिये।

शरीर-क्रिया विज्ञान में मनुष्य के केन्द्रीय नाड़ी-जाल का वर्णन एक वृक्ष के रूप किया गया है। पश्चिम के विद्वान् इसे 'जीवन-वृक्ष' (Arborvitae)

कहते हैं। नाड़ी की शाखा-प्रशाखादि इस वृक्ष के अंग-प्रत्यंग हैं। मनुष्य का स्वास्थ्य और जीवन इस नाड़ी-संस्थापन पर प्रतिष्ठित है। यह वनस्पतिही 'मनुष्य-जीवन' के केन्द्र में 'स्थापित यूप' है। यही वृक्ष सांकेतिक "कल्प-तरु" है। वास्तव में यह कल्प-तरु मानव ही है। प्रकृति की सर्वोत्तम कृति! ..... जो अपने को 'कल्पवृक्ष' समझकर भी स्वयं 'संकल्प' भूल गया, साथ-साथ खो बैठा अपना स्वस्थ रूप 'विकल्प' के घूर्णिचक्र में पड़कर। इसे भी नियति का व्यंग कहिये, "तेरे अंदर सब कुछ है, और तू ढूढ़ रहा है बाहर।"

'कल्प' और 'कल्पना' एक ही धातु से बने हैं। 'कल्प' दो प्रकार का है: एक 'संकल्प' और दूसरा 'विकल्प'। कल्प में 'सम्' और 'वि', उपसर्ग जोड़ने से दो शब्द बनते हैं —

सम + कल्प = समाधि।

वि + कल्प = व्याधि।

मन की शक्तियों का रहस्य 'संकल्प' या 'समाधि' है। नाना विकल्पों से मन व्याधि की ओर जाता है। उसकी शक्ति का क्षय होता है। इस प्रकार का 'कल्प-तरु' प्रकृति ने प्रत्येक प्राणी के भीतर लगाया है। उसी का फल हम संकल्प-मात्र से मनोनुकूल प्राप्त कर सकते हैं, पर उसकी उपलब्धि तरु की छाया तक ही सीमित है। स्रष्टा ने इसे भी अपनी मर्यादा के अन्तर्गत ही रखा है। सम्भवतः इस पवित्र वस्तु को मर्यादा-हीन होने से बचाया है। यह सच है कि कल्प-तरु की छाया से बाहर मन का राज्य समाप्त हो जाता है।

कहीं-कहीं पर इस कल्प-तरु को स्वर्ग का वृक्ष कहा गया है। इस सांकेतिक प्रयोग का भी रहस्य है। विचार मस्तिष्क में उत्पन्न होते हैं। मनोरथ की गति का पहिया मस्तिष्क में चक्कर काटता है। मस्तिष्क का अन्य नाम स्वर्ग भी है; जहाँ ज्योतिलोक है। इसी से इस 'कल्प-तरु' को स्वर्ग का बासी कहा गया है। अर्थात्, स्वर्ग का वृक्ष, जो कि नीचे उगता ही नहीं। इसका एक और प्रचलित नाम है और वह है पारिजात! 'पारिजात' की संज्ञा देने का भी विशेष प्रयोजन है। यह जन्म लेते ही प्राणी के साथ उगता है, मृत्यु के संग यह भी सुप्त हो जाता है। यह संकल्प या कल्पना भी दो प्रकार का है— एक शिव और दूसरा अशिव। 'शिव संकल्प' मानव-कल्याण का हेतु है। इसीसे पुराणकार ने कल्प-वृक्ष के तले 'शिव संकल्प' अमृत प्राप्त करने की शिक्षा दी है। अब यह प्राणी पर निर्भर करता है कि वह अपने कानन के 'पारिजात' से 'संकल्प या 'विकल्प' का पुष्प माँग ले।

—०—

केवल अपने दोष को दूर करने की कोशिश करो, तुम्हारा विकास निश्चित है, इस भ्रम में न रहो, कि मेरा नहीं, दूसरे का दोष है।

जिन्दगी एक ख्याल है, कमलोग इसे समझ और गा सकते हैं।

—पुष्प-दन्त

मोरी चुनरी में लग गई दाग हो पिया!

श्री रामबरण सिंह 'सारथी'

अर्थ, काम और मोक्षाभिलाषी मनुष्य निर्वाण पद को प्राप्त कर अपने आपको गौरवान्वित करना चाहता है। यह मनुष्य की बहुत ही सुन्दर एवं मधुर कल्पना कही जा सकती है। मनुष्य है कौन? वह किनसे और क्यों निर्वाण की अपेक्षा रखता है? वह निर्वाण का पद प्राप्त करने के लिए कहाँ जायगा और निर्वाण का पद प्राप्त कर कौन-सा काम करेगा? कुछ लोग जो करने के लिए दौड़-धूप कर चुके हैं उनकी भावना है कि जब मनुष्य अपने कर्मों को करता हुआ परमात्मा अथवा परम तत्व में मिलकर एकाकार हो जाता है तब वह निर्वाण को प्राप्त कर लेता है और फिर उसे संसार में आकर कर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती है। वह कर्म के बन्धन से मुक्त होकर सांसारिक बन्धन से मुक्त हो जाता है और फिर संसार से मुक्त कर दिया जाता है। परमात्मा में मिलकर मनुष्य की प्रकृति तथा प्रवृत्ति एकाकार होती है अथवा मनुष्य का मन परमात्मा से मिलकर पूर्णता को प्राप्त करता है अथवा उसकी मानसिक चेतना? परमात्मा में मिलकर मनुष्य की आत्मा एकाकार होती है अथवा उसकी भावना? मूल प्रश्न यह है कि प्राणी-शास्त्र के अनुसार जीव का ऐसा कौन सा तत्व है जो परमात्मा में मिलकर एकाकार हो जाता है और कितने ऐसे तत्व हैं जिनका परमात्मा से मिलन नहीं हो सकता है? कौन-कौन से ऐसे तत्व हैं जिनमें परमात्मा नहीं हैं और कितने ऐसे तत्व हैं जिनमें परमात्मा हैं? इतना तो सभी जानते हैं कि संसार की रचना पाँच तत्वों के मिलने से हुई है। तो क्या सभी तत्वों में परमात्मा नहीं है? जल में परमात्मा हैं और क्या आकाश में परमात्मा नहीं हैं? वायु में परमात्मा हैं और क्या अग्नि में परमात्मा नहीं हैं? परम तत्व की ज्योति, आभा, दीप्ति और चमकता हुआ प्रकाश का पुंज किसमें नहीं है? इस प्रकार यदि तत्वों का विश्लेषण किया जायगा तो स्पष्टतः परमात्मा की चमक सभी तत्वों में पाई जायगी। परमात्मा सभी तत्वों में समान रूप से व्याप्त है। परमात्मा तो संसार का स्वामी है, साजन है और है वह संसारमात्र का प्रियतम।

सुख और दुःख की अधिकारिणी आत्मा परमतत्व की मोहकता तथा उसकी चारुता में अपने आपको एकाकार कर देना चाहती और जब आत्मा परम तत्व की ज्योति में अपने आपको विलीन कर देना चाहती है तब उसे अलौकिक आनंद, उल्लास तथा असीम सुख का अनुभव प्राप्त होता है। इस अलौकिक आनन्द, उल्लास और असीम सुख का नाम ही यदि आत्मा, जीव, तत्व एवं प्रकृति क समन्वय से निर्वाण कहा जाय तो कुछ क्षण के लिये निर्वाण का सुख प्राप्त किया जा सकता है— जिस तरह छोटी नदियों का जल समुद्र में जाकर मिलता है और पुनः समुद्र से सूर्य की किरणों एवं हवा के माध्यम से बिछुड़ भी जाता है। प्रतिदिन छोटी-छोटी नदियों का पानी समुद्र में जाता और फिर वहां से वापस चला भी आता है। यह तो एक प्रकार का खेल है, नाटक है, सिनेमा है और है जादू। ऐसी स्थिति में आत्मा तो परमात्मा से मिलती भी है और बिछुड़ती भी है। मिलन में उसे आनन्द होता है और बिछुड़न एवं वियोग में पीड़ा। एक प्रकार की मार्मिक वेदना, टीस और दर्द लेकर वह परमात्मा से अलग होती है। आत्मा और परमात्मा का मिलन पति और पत्नी का मिलन-सा है— दो होते हुए भी एक। एसीलिये प्रत्येक

भारतीय पाणिग्रहण करते समय आज भी प्रतिज्ञा करता है—

यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम।
यदिदं हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव॥
(मंत्र ब्राह्मण १।३।६)

अर्थात्, यह जो तुम्हारा हृदय है वह मेरा हृदय हो जाय! यह जो मेरा हृदय है वह तुम्हारा हृदय हो जाय!

भारतीय परम्परा में पति-पत्नी प्रेम का यही स्वरूप है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि दोनों का अस्तित्व बना हुआ है। 'मेरा' और 'तुम्हारा' अभी भी है। इसी 'मधुर' प्रेम के स्वरूप का प्रतीक अर्द्धनारीश्वर की मूर्त्ति है। यहाँ भगवान शंकर और माँ पार्वती की एक ही मूर्त्ति है किन्तु आधा पुरुष और आधा स्त्री।

असलियत तो यह है कि आज के मनोवैज्ञानिकों को इस सत्य को मान्यता देनी पड़ी है कि मनुष्य में शिव-शक्ति (पुरुष-नारी) दोनों के तत्व वर्त्तमान हैं। आश्चर्य की बात है कि हमारे त्रिकालदर्शी कवियों ने सदियों पहले इस सत्य का दर्शन कर लिया था।

उपनिषदों की स्थापना है— "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम।" अर्थात, वास्तव में यह तत्व देव की स्वरूप शक्ति है। देव को अचल रूप में अपनी सत्ता में धारण किये हुए है। कहना नहीं होगा कि सत्ता को धारण करनेवाला तत्व शक्ति है। बिना शक्ति के सगुण में अचल रहना प्रत्येक चर-अचर के लिये असम्भव है। इसी तथ्य की स्थापना दुर्गा सप्तशती में इस तरह है—

या देवी सर्व भूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥

जो देवी सभी भूतों (जीवों) में माता के रूप में समुपस्थित हैं उनको बारम्बार प्रणाम है।

यह भी शक्ति की उपस्थिति सभी भूतों में बतलायी गयी है। विचारणीय बात यह है कि प्रायः शक्ति का निर्देश स्त्रीलिंग में किया जाता है। फिर भी

(पृष्ठ १७ का शेषांश)

जैसे किसी अनुभवी वृद्ध की गम्भीर ध्वनि। ध्वनि पुकार कर कह रही थी— "चिरंजीव सत्यकाम! हमारी संख्या चार हजार की हो गयी है। हम सभी हृष्ट-पुष्ट और संतुष्ट हैं। गुरु महाराज ने कहा था— ये गायें जिसके पास हैं वह इन्द्र-सा है। अब आश्रम चलो, वहाँ तुम्हें वेदों का अध्ययन-मनन करना बाकी है।"

सत्यकाम आश्रम लौटा तो गायों की बारात लेकर। वह वृषभ आगे-आगे था।

महर्षि ने गायों को देखा। वे गर्व से फूले नहीं समाते थे। हर्षोत्फुल्ल होते हुए बोले— "स्नातको! देख लिया तुमने गुरुभक्ति का जीता-जागता आदर्श। भारतवर्ष का सबसे बड़ा धन 'गो-धन' है। गो माता के न केवल सांसारिक उपकार हैं हम पर बल्कि सांस्कृतिक भी। यह मेरी जननी और जन्मभूमि की महत्ता का भान कराती है। जैसे— बिल्ली और व्याघ्र का। वत्स सत्यकाम! मैं तुझको आशीर्वाद देता हूँ, तू आर्थत्व प्राप्त कर— विद्वत्ता को प्राप्त कर! प्रकाश प्राप्त कर— "आर्याय ज्योतिः जनयन्" आर्यों के लिये प्रकाश किया है। (ऋग्वेद ७।५।

सत्यकाम गुरु-कृपा से पारंगत प्रकाश को शीघ्र प्राप्त कर गार्हस्थ्य जीवन में प्रविष्ट हुआ। वह राजा बन गया। उसके राज्य में विद्वानों का बड़ा आदर होता था।

—०—

पुल्लिंग या नपुंसक लिंग के द्वारा भी इस शक्ति का निर्देशन किया जा सकता है।

स्वयं महाकवि कालिदास की उक्ति है—

त्वमम्ब पुरुषो न चाङ्गनाचित्स्वरूपिणी न षण्ढतापिते।
नापि भर्तुरपि ते त्रिलिंगिता त्वां विना तदपि स्फुरेदयम॥

इसलिये वह जो सबमें 'शक्ति' के रूप में वर्त्तमान है उसका 'शिव' भी है। 'शक्ति' और 'शिव' भिन्न होते हुए भी एक हैं। दोनों एक-दूसरे के हैं— मगर हैं दो। इस 'शक्ति' का एकमात्र 'शिव' जो उसका पति या प्रीतम है— सब का आराध्य है। परमात्मा सब का पति और हमारी आत्मा पत्नी।

पत्नी का सर्वश्रेष्ठ रूप भारत में देखने को आता है। यहाँ तो शादी जो एकबार हो गयी सो हो गयी। कुछ बन्धनों के साथ तलाक का कानून पास तो हो गया है मगर यदा-कदा ही काम में लाया जा रहा है। यहाँ की नारियों ने सम्पूर्ण विश्व के नारी-समाज के सामने ऐसे आदर्श उपस्थित किए हैं जो चिरकाल तक अनुकरणीय बने रहेंगे। इसी आदर्श को व्यवहार बनाकर हमारे देश की वीरांगनाओं ने सिद्ध कर दिया कि पति-पत्नी दो होते हुए भी एक हैं। पतियों के मरने के बाद पत्नियाँ अपने-आप को जीवित रखना व्यर्थ समझ कर नारीत्व का 'जौहर' दिखलाते हुए जल मरती थीं।

यहाँ एक राजस्थानी लोकगीत की याद हो आयी मुझे। शब्द तो याद नहीं हैं पर उसका अर्थ अवश्य याद है।

पुत्र युद्ध में मारा गया और उसकी पत्नी— जो कुछ ही दिन पहले अपने मांगों में सिन्दूर भरकर इस घर में आयी थी, वह भी अब जलने जा रही है जौहर की चिता में।

बेटे की माँ कहती है— "मेरी समधिन का दूध मेरे दूध से वजन में सवाया ज्यादा है। क्योंकि मेरा पुत्र तो मौत से मिलने को गया जिरह-बख्तर (लोहे के कवच) में, किन्तु मेरी पतोहू तो जा रही है मौत से मिलने हल्के झीने मलमल में!"

नारीत्व की यह उच्चता इस देश की विशेषता है।

इसीलिये यहाँ परमात्मा को पति के रूप में पाने की सदिच्छा हम पाते हैं। यहाँ परमात्मा को पतियों का पति कहा गया है।

पतिव्रता जिस दृष्टि से अपने पति को देखती हैं उसी दृष्टि से परमात्मा को देखना, यह बड़ा कठिन व्रत है। इसकेलिये सर्वथा शुद्ध होना होगा। जबतक अपने को पूर्णतया शुद्ध न कर लिया जाय तबतक परमात्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती है। खान-पान, आचार-विचार, क्रिया-कलाप, आसन-वर्त्तन; घर-द्वार भजन-सत्संग— यानी तरह-तरह की बाह्य एवं आंतरिक शुद्धता के बिना परमात्मा की उपलब्धि असम्भव है।

वह परमात्मा सबका स्वामी है— सबका पति है। कहा है उपनिषदों ने—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमंच दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमाड्यम्॥

पतियों के पति से मिलने के लिये प्रेयसी को बनना-संवरना होगा, साज-शृङ्गार करना होगा और अच्छे कपड़े पहनने होंगे।

आत्मा अगर दुल्हिन है तो शरीर चुनरी। पाप करने से इस चुनरी में दाग लगते हैं। इसलिये इस चुनरी को धो-धो कर साफ करना होगा।

पतिव्रता जिस तरह अपने पति को प्रसन्न करने के लिये अपना साज-शृङ्गार करती है। अच्छे, साफ

और पतिमनभावन कपड़े पहनती है। यह शरीर-रूपी चोला जबतक भीतर-बाहर से पूर्णतया पवित्र नहीं हो जाता तबतक पिया-मिलन असम्भव है। अगर मिलन किसी तरह, किसी ढंग से हो भी जाय तो वह क्षणिक होगा।

इसीलिये संत कबीर दास जी कहते हैं—

गई पिया के महल, पिया संग ना रची।
हृदे कपट रहयो छाय, मान लज्जा भरी॥

चुनरी धोने की कला और फिर साज-शृङ्गार कर के प्रीतम को रिझाने की कला बिना सद्गुरु के नहीं प्राप्त होती। इसीलिये उपनिषदों का आदेश है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गपथस्तत्कवयो वदन्ति॥

अर्थात्, उठो! जागो! उन श्रेष्ठ पुरुषोंसे जिनको ज्ञात हो चुका, इस ज्ञान को प्राप्त करो। छुरे की धार की-सी बारीक राह पर चलना है।

प्रीतम से मिलने की राह का राज़ सद्गुरु से मिलता है। इसी बात को कबीर साहब ने कैसे रस-पूर्ण एवं सीधे-सादे ढंग से कहा है—

सतगुरु है रंगरेज, चुनर मोरी रंगि डारी।
स्याही रंग छुड़ाइ के रे, दियो मजीठा रंग।
धोये से छूटे नहीं रे, दिन-दिन होत सुरंग।
भाव के कुंड नेह के जल में, प्रेम रंग दइ बोर॥
चसकी चास लगाइ केरे, खूब रंगी झकझोर॥
सतगुरु ने चुनरी रंगी रे, सतगुरु चतुर सुजान।
सऊ कछु उन पर वार दूँ रे, तन-मन-धन औ प्रान॥
कह कबीर रंगरेज गुरु रे, मुझ पर हुए दयाल।
सीतल चुनरी ओढ़ि के रे, भइहौं मगन निहाल॥

इसलिए हम-आप सभी को चाहिये कि ऐसी युक्ति करें कि चुनरी के दाग साफ हो जाँय और फिर उस पर ऐसा रंग चढ़े कि उसे पहनकर हम-आप मगन और निहाल हो सकें।

—(::)—

रूस में हिन्दू मन्दिर

(गतांक से आगे)

अठारहवीं शताब्दी में और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में साठ से सत्तर व्यक्ति तक धार्मिक क्रियाओं में भाग लेते थे। आम तौर से धार्मिक अनुष्ठानों का संचालन भारत से आये हुए ब्राह्मण करते थे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में पुजारियों की संख्या तेजी के साथ गिरने लगी। अंतिम बड़ा समारोह, सन् १८५० में रूस के जार अलेक्जान्दर द्वितीय की उपस्थिति में सम्पन्न हुआ था। १८८० के लगभग, अपने एकाकीपन से ऊब कर, अंतिम ब्राह्मण भी मंदिर छोड़ कर चला गया।

काम अधूरा है।

मंदिर के विषय में अब भी बहुत कुछ जान-कारी प्राप्त करना बाकी है। अभी सभी पुरालेखों का अनुवाद भी नहीं हुआ है। अभी यह भी पता लगाना बाकी है कि इस अग्निपूजा का वास्तव में क्या स्वरूप था और भारत के धर्मों के साथ उसका क्या सम्बन्ध था। सोवियत विद्वानों और उनके भारतीय सहकर्मियों का और अनुसंधान कार्य, दो मित्र राष्ट्रों के इतिहास के इस रोचक पृष्ठ को सुस्पष्ट करने के लिये निस्सन्देह सहायक होगा।

—

'ध्यान-पद्धति-सार' का चीनी अनुवाद

—सुजित कुमार मुखोपाध्याय

'ध्यान पद्धति सार' बौद्ध धर्म का एक छोटा-सा ग्रंथ है। इ .के मूल लेखक कौन थे, इसका पता अभी तक नहीं चल सका। सन् ई० की चौथी शताब्दी में सुप्रसिद्ध आचार्य कुमार जीव ने इस पुस्तक का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। इस समय मूल रूप में यह ग्रंथ उपलब्ध नहीं तथापि, अनेक अन्य गुप्त बौद्ध ग्रन्थों की भाँति, चीनी अनुवाद की सहायता से इसके वक्तव्य वस्तु का परिचय हमें मिल सकता है। मैंने चीनी भाषा से बंगला भाषा में इसका अनुवाद किया है। यहाँ हिन्दी पाठकों के लिये संक्षेप में इस ग्रन्थ का परिचय दिया जा रहा है।

आरम्भ में ही ग्रन्थकार ने कहा है कि वायु, पित्त और कफ जनित जो तीन प्रकार की शारीरिक व्याधियाँ हैं उनका दुःख स्वल्प और तुच्छ है, किन्तु मानसिक त्रिविध व्याधियों का दुःख कठिन और गहरा होता है। एक बार जब वह शुरू हो जाता है तो कई कल्प तक यह दुःख भोगना पड़ता है। वैद्यराज बुद्ध इस व्याधि की दवा बता सकते हैं। बुद्ध ने कहा है :—"रक्त और मांस यदि समाप्त हो भी जाँय और यदि चर्म और स्नायु मात्र ही अवशिष्ट रह जांय तो भी उद्योग न छोड़ना।" जिस प्रकार शरीर में धारण किये हुए वस्त्र में आग लगने पर मनुष्य की एकमात्र इच्छा आग को बुझा देना ही होती है, मन में कोई और बात नहीं आती, उसी प्रकार राग, द्वेष और मोह की आग मे जलते हुए मनुष्य को अपने उद्धार के लिये एकमात्र इच्छा यही रखनी होगी कि इनकी ज्वाला शान्त होवे।

इसके बाद ग्रंथ में व्याधि, दुख, भूख, प्यास, शीत, उष्ण, द्वेष, वैर इत्यादि दुःखों से बचने के उपाय बताए गये हैं। प्रथम उपाय ध्यान है। बौद्ध शास्त्रों में नव प्रकार के ध्यान का वर्णन मिलता है। इनमें पहले चार रूप के और दूसरे चार अरूप के ध्यान हैं। नवाँ ध्यान वह अन्तिम अवस्था है जिसमें सब प्रकार की चेतना और अनुभूति सम्पूर्ण रूप से निरुद्ध हो जाती है! ध्यान की इस अवस्था में मृत देह के साथ ध्यानी की देह का कोई भेद नहीं रह जाता। मृत के साथ केवल इतना ही अन्तर होता है कि प्राण बाहर नहीं निकला होता, इन्द्रिय समूह नष्ट नहीं होते, और देह में ताप बना रहता है।

इन सब ध्यानों के विषय में पुस्तक में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। जो शैक्ष्य (शिक्षार्थी = साधक) प्रथम ध्यान की आकांक्षा करे इसके लिये चार प्रकार की अपरिमय चित्त भावना (१ मैत्री, २ करुण ३ मुदिता और ४ उपेक्षा) या अशुभ भावना (अर्थात, मूल और सहकारी कारणों का चिन्तन) या बुद्ध की समाधि विषयक भावना या प्राणायाम का अभ्यास आवश्यक बताया गया है। इस प्रकार शरीर की अनित्यता आदि का यथार्थ ज्ञान होता है और वैराग्य का उदय होता है। यदि साधक के चित्त में इन भावनाओं के निरंतर अभ्यास मे वैराग्य का उदय हो तो उसके लिये ग्रन्थकार ने कंकाल ध्यान का विधान बताया है।

श्वेत कंकाल का ध्यान इस प्रकार है — साधक को यह सोचना होगा कि देह से चर्म, रक्त, मांस

आदि सब कुछ निःशेषित हो गये हैं, सिर्फ हड्डियों की ठठरी बच रही है। यह हड्डियाँ परस्पर संयुक्त शंखों की भाँति और बर्फ के टुकड़ों की तरह शुभ्र और उज्ज्वल हैं। क्या इस प्रकार का ध्यान सम्भव है? ग्रन्थकार जवाब में एक अत्यंत मनोरञ्जक चिकित्सा-पद्धति का उदाहरण देते हैं। कुष्ट रोगी को वैद्य रक्त-पान कराता है। उस समय घर के समस्त वस्तुओं को श्वेत करवा दिया जाता है। बाद में चाँदी के शुभ्र पात्र में रक्त रखकर रोगी को पीने को दिया जाता है। रोगी यदि कहे कि यह रक्त है तो उसे बताया जाता है कि नहीं, तुम गलत समझ रहे हो, यह दूध है। देखते नहीं घर में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो श्वेत न हो ठीक से समझो, यह दूध है। सात दिन ऐसा करने पर रक्त दूध दीखने लगता है। पता नहीं ऐसी चिकित्सा पद्धति अब भी कहीं प्रचलित है या नहीं पर ग्रंथकार इस उदाहरण को देकर बताते हैं कि यदि भावना के द्वारा रक्त दूध दीख सकता है तो शरीर श्वेत कंकाल की भाँति क्यों नहीं दिखेगा?

कंकाल ध्यान सिद्ध होने के बाद साधक को उसके भीतर चित्त को देखने का अभ्यास करना चाहिये। इस चित्त की उत्पत्ति भी है और विनाश भी। यह मणि के अन्तर्वर्ती सूत्र की भाँति स्थित है। जब साधक का चित्त शान्त हो जायगा तो आँख खुली हो या मुँदी हो कंकाल के देखने में कोई बाधा नहीं रह जायगी।

इसके बाद बुद्ध की समाधि-भावना का उपदेश है। चित्त का स्थिर होना आवश्यक है। इसके बाद साधक को बुद्ध-मूर्त्ति का ध्यान करना होगा। मूर्त्ति के पास साधक जा रहा है, या साधक के पास मूर्त्ति आ रही है, ऐसी भावना से ध्यान नहीं करना होगा। बल्कि सोचना होगा कि मूर्त्ति प्रत्यक्ष जीवन्त रूप में सामने खड़ी है। अभ्यास के बाद साधक को बुद्धदेव अविकल रूप में आमने-सामने दिखेंगे। जो लोग बुद्धदेव का ध्यान करते हैं, उनको बुद्ध भी स्मरण करते रहते हैं और इसलिये अकुशल धर्म उस आदमी के पास जा ही नहीं सकते।

जो साधक इस प्रकार बुद्ध को जीवन्त प्रत्यक्ष रूप में देखने की योग्यता पा जाय तो उसे क्रमशः बुद्ध के सम्भोगकाय और धर्मकाय का ध्यान करना आवश्यक बताया गया है। बुद्ध ने धर्म-सम्भोग के लिये जो देह धारण किया था वही संभोगकाय है। साधक को ध्यान करना होगा कि बुद्धदेव बोधिवृक्ष के नीचे समासीन हैं। उनके अंग-अंग से दिव्य ज्योति छिटक रही है। या फिर इस प्रकार ध्यान करना होगा कि वे मृगदाव (सारनाथ) में बैठकर पंच भिक्षुओं को इन चार सत्यों का उपदेश दे रहे हैं कि दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख का निरोध है और दुःख निरोध का उपाय भी है। या फिर, इस प्रकार ध्यान करना होगा कि महा ज्योतिर्मय बुद्ध गृद्ध कूट पर्वत पर महासंघ को प्रज्ञापारमिता का उपदेश दे रहे हैं। मतलब यह है कि साधक भगवान के किसी एक धर्मोपदेष्टा रूप को चुन कर ध्यान कर सकता। यह अभ्यास हो जाने के बाद साधक बुद्ध के धर्मकाय का ध्यान करेगा। बुद्ध की अपरिमेय गुणराशि ही उनका धर्मकाय है। बुद्ध समस्त सद्गुणों क आकार हैं। प्राणिमात्र के प्रति उनका प्रेम अगाध है। जब वे राजकुमार थे उस समय किसी कुष्ठ रोगी की चिकित्सा करने के लिये उन्होंने वैद्य को आदेश दिया था। वैद्य ने कहा कि यदि कोई स्वस्थ व्यक्ति अपना रक्त उसके पान करने के लिये और अपनी मज्जा उसके शरीर में लेप करने के लिये दे तो वह स्वस्थ हो सकता है। बुद्ध ने सोचा कि

ऐसा व्यक्ति मिलना कठिन है और इसलिये उन्होंने वैद्य को आदेश दिया कि मेरे शरीर से रक्त और मज्जा लेकर चिकित्सा की व्यवस्था करो। ऐसे अपार प्रेमरूप बुद्ध हैं। पिता-माता में भी संतान के प्रति वैसा प्रेम नहीं देखा जाता जैसा बुद्ध का प्राणियों के प्रति है। इसी प्रकार अन्य गुण भी बुद्ध में अपरिमित हैं। साधक को उनका ध्यान करना होगा।

इसके पश्चात् दशों दिशाओं में बुद्ध को देखने की साधन-पद्धति बताई गई है। एक-एक करके भिन्न दिशाओं में बुद्ध का ध्यान करने से अन्त में सब दिशाओं में सर्वबुद्ध का दर्शन सहज हो जाता है। फिर तो साधक प्रत्येक दिशा में प्रत्यक्ष रूप से बुद्ध का उपदेश सुन सकता है और शंका और संदेह का कुहरा नष्ट हो जाता है। कभी-कभी पूर्वकृत पापों के कारण बुद्ध का दर्शन नहीं होता। ऐसी अवस्था में साधक को उचित है कि वह दिन और रात में छः बार अपने पूर्वकृत दुष्कृत्यों के लिये अनुशोचना करे और फिर से उन्हें न करने की प्रतिज्ञा करे। ऐसा करने से उसे अवश्य दर्शन मिलेगा और यदि उपदेश नहीं मिला तोभी उसका चित्त प्रसन्न होगा। इस सिद्धि के बाद साधक को अमितायु बुद्ध के दर्शन की विधि बतायी गयी है।

जिसकी बुद्धि तीक्ष्ण नहीं है ऐसे साधक को अमितायु बुद्ध के दर्शन की शिक्षा क्रमशः देनी होगी। पहले वह सोचेगा कि मस्तिष्क के ऊपरी भाग से एक इंच भर स्थान में केवल लोहित अस्थि भर रह गयी है। न चमड़ा है न मांस। फिर यह अस्थि शंख के समान श्वेत हो गई है। इसका अभ्यास करना होगा, फिर सोचना होगा कि सारा शरीर ही श्वेत कंकाल के समान है। क्रमशः इस श्वेत कंकाल को वैदूर्यमणि के समान प्रकाशमान सोचना होगा। फिर क्रमशः यह ध्यान करना होगा कि यह उज्ज्वल प्रकाश शरीर के भीतर से बाहर निकल रहा है फिर बाहर से भीतर आ रहा है। क्रमशः जब साधक इस प्रकार आलोक क्रमशः अधिक मात्रा में शरीर से निकालने में समर्थ हो सकेगा तो धीरे-धीरे उसी आलोक में पश्चिम दिशा में ऋजु भाव से समासीन अशेष तेजःपुंज अमितायु बुद्ध का दर्शन पा सकेगा। परन्तु जिसकी बुद्धि तीक्ष्ण है उसे इतने टंटे की आवश्यकता नहीं, वह शुरू से उसी शून्य उज्ज्वल ज्योति का ध्यान करेगा और अमितायु का दर्शन पा सकेगा। जो लोग अमितायु बुद्ध के देश में जन्म पाना चाहते हैं उन्हें इस ध्यान का आश्रय लेना विहित है।

इसके बाद ग्रन्थकार ने 'सर्वधर्मत–तथा और काम-क्रोध-मोह-तथता' की ध्यान-पद्धति बताई है। तथता अर्थात् तथ्य। सर्वधर्मों (पदार्थों) की सचाई क्या है, काम, क्रोध आदि की असलियत क्या है इसी बात को समझने के लिये ये दोनों ध्यान-पद्धतियाँ विहित हैं। सभी धर्म हेतु-प्रतत्य-संभव हैं इसलिये उनकी अपनी कोई सत्ता नहीं है और इसीलिए वे शून्य हैं। परमार्थतः उनका कोई अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार इनकी तथता (असलियत, सचाई) जान लिया है। उनके लिए ये दर्पण में पड़ी हुई परछाई की तरह असत हैं। ये केवल आँखों को धोखा देने वाले हैं। यह ध्यान बड़ा कठिन बताया गया है। इसके लिए चित्त का स्थिर और निर्मल होना परमावश्यक है। यदि चित्त स्थिर न होता हो तो उसे भर्त्सना करके, उसकी वास्तविक स्थिति समझाकर संयत करने का उपदेश है। जब चित्त स्थिर हो जायगा और तथता की सिद्धि हो जायगी तो 'सत्यक्षांति और धर्मक्षांति' उत्पादन करना सुलभ होगा। सत्यक्षान्ति में साधक को कोटि-कोटि प्राणियों के दिए हुए दुःख और अपमान से क्षोभ नहीं होता और सम्मान–सत्कार से हर्ष नहीं होता। 'धर्म क्षान्ति' की अवस्था में समस्त धर्म (पदार्थ) अति गंभीर, परिशुद्ध और अतिशून्य भासित होते हैं।

इसके बाद ग्रन्थ में 'सद्धर्म पुंडरीक समाधि ध्यान-पद्धति' बताई गई है। इक्कीस दिन तक एकाग्र चित्त से

(शेषांश पृष्ठ ३० पर)

संत कबीर

—रामकुमार वर्मा

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्ति सम्बन्धी रचनाओं का विशेष महत्व है। यह महत्व इसलिये है कि इन रचनाओं से जहाँ एक ओर साहित्य सम्पन्न हुआ है, वहाँ दूसरी ओर उनसे हमारा मानसिक पक्ष भी परिष्कृत हुआ है। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ क्षण-क्षण परिवर्तित होती थीं, राज्यों की सीमाएं वर्षा-कालीन मेघ-मालाओं की भाँति घटती बढ़ती थीं और जनता का भाग्य स्वप्न की भाँति अस्पष्ट था। ऐसी स्थिति में राजनीति से संत्रस्त होते हुए भी जनता राजनीति से अलग हट गई थी, उदासीन थी। उसकी सारी शक्ति जीवन के वास्तविक मूल्यों के पुनर्निर्धारण में लग रही थी··· जीवन का लौकिक महत्व नगण्य हो रहा था, इसलिये उसके अलौकिक महत्व की ओर जनता अग्रसर हो रही थी। जन-मन के अधिनायक कवियों ने इस जन-वाणी को मुखरित किया और राजनीतिक विप्लवों के बीच आध्यात्मिक जीवन की शान्ति और भक्ति की स्वर-सरिता प्रवाहित की।

भक्ति-काल की रचनाओं ने दो दिशाएँ ग्रहण कीं। एक निर्गुण और निराकारवादी थी, दूसरी सगुण और साकारवादी। कालक्रमानुसार निर्गुण प्रथम है। यह काल ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी का था जिसमें संत कबीर ने प्राचीन परम्पराओं का संशोधन करते हुए संत सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की। लगभग एक शताब्दी बाद सूर, तुलसी और मीरा ने वैष्णव भक्ति के आदर्शों को ग्रहण करते हुए सगुण सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया जिसमें राम और कृष्ण की भक्ति शतमुखी होकर जन-जीवन मन्दाकिनी की भाँति प्रवाहित हुई। यहाँ एक बात अवश्य विचारणीय है कि विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में ही मैथिल कोकिल विद्यापति ने कृष्ण की साकारोपासना में पदावली की रचना की थी, किन्तु उनकी पदावली लौकिक शृङ्गार से ओत-प्रोत होने के कारण भक्ति पक्ष का पूर्ण समर्थन नहीं कर सकी। इसलिये वह मनोरंजन और विलासमयी चेष्टाओं की रंगस्थली ही बन कर रह गयी। मिथिला से बाहर मध्य देश में वह भक्ति का मेरुदण्ड नहीं बन सकी, रस-वाहिनी शिराओं की भाँति ही कान्त-कमनीय बनी रही।

निर्गुण सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि में नाथ सम्प्रदाय है और समानान्तर दिशाओं में वैष्णव भक्ति का अलंकार धारण किये हुए रामानन्द द्वारा प्रचारित शंकर का अद्वैतवाद तथा अनेक सूफी, सन्तों द्वारा प्रचारित सूफी मत है। सन्त कबीर पर रामानन्द की अद्वैत-विचारधारा का प्रभाव सबसे अधिक है। कबीर ने साधना के क्षेत्र में योग और प्रेम को जो महत्व दिया है, वह क्रमशः नाथ सम्प्रदाय और सूफीमत का प्रभाव ही माना जा सकता है। यद्यपि प्रेम का महत्व वैष्णव भक्ति से भी समर्थित होता है, किन्तु प्रेम की मादकता जो अनेक प्रतीकों के रूप में प्रस्तुत की गयी है, वह निश्चय ही सूफी मत से प्राप्त की हुई ज्ञात होती है।

अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म ही एक सत्य है। अविद्या अथवा अज्ञान के कारण ही यह दृश्यमान जगत सत्य भासित होता है, जिसमें जीवन और मरण के सुख और दुख घटित होते रहते हैं। इस अज्ञान का नाम माया है। इसे नष्ट करने के लिये, आत्मा के लिये ज्ञान की आवश्यकता है, क्योंकि ब्रह्म और आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। जो अन्तर दृष्टिगत होता है, वह मायामय है। इस अन्तर को नष्ट करना

ही निज रूप में स्थित होना है और तभी 'सोऽहम्' की स्थिति प्राप्त होती है। कबीर ने इस सोऽहम् पर विशेष बल दिया है। इस पर कुछ विस्तार से विचार करना आवश्यक है। संत कबीर ने सोऽहम् की स्थिति योग और रहस्यवाद द्वारा सम्भव बतलायी है—

अरध उरध मुखि लागो कासु।
सुंन मंडल महि करि परगासु॥
ऊहाँ सूरज नाहीं चंद।
आदि निरंजनु करे अनंद॥
सो ब्रह्मण्ड पिंडि सो जानु।
मानसरोवरि करि इसनानु॥
सोहं सो जा कउ है जाप।
जाकउ लिपत न होई पुन्न अरु पाप।
अब रन वरन धाम नहीं छाम।
अवर न पाइअै गुर का साम॥
टारी न टरै आवै न जाइ।
सुंन सहज महि रहिओ समाइ॥
मन मधे जानै जे कोइ।
जो बोलै सो आपै होइ॥
जोति मंत्र मनि असथिरु करै।
कहि कबीर सो प्रानी तरै॥

इसका सामान्य अर्थ इस प्रकार है—

जिस शून्य मंडल के नीचे और ऊपर मुख से आकाश लगा हुआ है, उसी में वह (ब्रह्म) प्रकाश कर रहा है। वहाँ न सूर्य है, न चन्द्रमा किन्तु (अपने ही प्रकाश में) वह आदि निरंजन वहाँ आनन्द (की सृष्टि) कर रहा है। उसी शून्य मंडल को ब्रह्माण्ड और उसी को पिंड समझो। तुम उसी मानसरोवर में स्नान करो और सोऽहम् का जाप करो। जिस सोऽहम् के जाप में पाप और पुण्य लिप्त नहीं हैं (अर्थात्, सोऽहम् जाप, पाप और पुण्य से परे है) उस शून्य मंडल में वर्ण (रंग) है और न अ-वर्ण (अ-रंग); न वहाँ धूप है न छाया। वह गुरु के स्नेह के अतिरिक्त और किसी भाँति प्राप्त नहीं किया जा सकता। फिर (मन की सहन शक्ति) न टालने से टल सकती है और न किसी अन्य वस्तु में आ-जा सकती है। वह केवल शून्य में लीन होकर रहती है। जो कोई इस शून्य को अपने मन के भीतर जानता है, वह जो कुछ भी उच्चारण करता है, वह आप ही (सच्चे अन्तःकरण) का रूप हो जाता है। इस ज्योति के रहस्य में जो व्यक्ति अपना मन स्थिर करता है, कबीर कहते हैं कि वह प्राणी इस संसार से तर जाता है।

इस पद में कबीर ने विस्तार से सोऽहम् की स्थिति का वर्णन किया है। जब मैं वह (ब्रह्म) हूँ, जैसी सोऽहम् की अनुभूति होती है, तो ब्रह्म और जीव की सत्ता एक ही हो जाती है। कबीर ने भी सोऽहम् कह कर ब्रह्म और जीव की सत्ता एक ही मानी है, किन्तु उन्होंने इस स्थिति में कुछ संशोधन किया है। कबीर ने दर्शन के प्रत्येक तत्व को संशोधन के साथ ग्रहण किया है, जिससे वह सामान्य जन के लिये भी व्यावहरिक बन जाय। ब्रह्म और जीव का ऐक्य उन्होंने अद्वैतवाद की अपेक्षा रहस्यवाद से ग्रहण किया है। रहस्यवाद के सम्बन्ध में मैंने स्पष्ट किया है कि वह आत्मा में विश्वात्मा की अनुभूति है। उसमें विश्वात्मा का मौन आस्वादन है। प्रेम के आधार पर वह आत्मा और विश्वात्मा में ऐक्य स्थापित करता है। यह ऐक्य ही है, एकीकरण नहीं। एकीकरण की भावना अद्वैतवाद में है, ऐक्य की भावना रहस्यवाद में। अद्वैतवाद में और रहस्यवाद में कुछ भिन्नता है। अद्वैतवाद में मिलाप की भावना का ज्ञान भी नहीं रहता, रहस्य-

वाद में यह मिलाप एक उल्लास की तरंग बनकर आत्मा में जाग्रत रहता है। जब एक जल-बिंदु अनंत जलराशि में मिलकर अपना व्यक्तित्व खो देता है तब उसे अपने अस्तित्व का ज्ञान भी नहीं रहता। यह भावना अद्वैतवाद ही की है लेकिन रहस्यवाद में अस्तित्व का पूर्ण विनाश नहीं होने पाता। मिलाप की स्थिति में भी यह भावना वर्तमान रहती है कि मैं मिल रहा हूँ। आत्मा विश्वात्मा से मिल कर भी यह कह सकती है कि मैं अपने लाल की लाली, जहाँ देखती हूँ वहीं पाती हूँ। जब मैं उस लाली को निकट से देखने जाती हूँ तो मैं भी लाल हो जाती हूँ। यहाँ मैं और लाल में एकता होते हुए भी दोनों का अस्तित्व-ज्ञान अलग-अलग है। व्यक्तित्व का अभिज्ञान रहते हुए इस मिलाप की आनन्दानुभूति ही रहस्यवाद की अभिव्यक्ति है। यदि आत्मा और परमात्मा की स्थिति एक ही हो जाय तो मिलने की आनन्दानुभूति का केन्द्र किस जगह स्थित होगा। आनन्द का अनुभव करने के लिये आत्मा के व्यक्तित्व को ब्रह्म से मिलते हुए भी अलग मानना होगा। रहस्यवाद की यही विशेषता है। इस रहस्यवाद में सोऽहम् की अनुभूति प्राप्त करने पर भी आत्मा आनन्दानुभूति से वंचित नहीं होती।

रहस्यवाद प्रेम की चरम परिणति में ही संभव है। यह प्रेम निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार की भक्ति में प्रतिष्ठित हो सकता है। इस प्रेम की सहजानुभूति के लिये व्यक्तित्व का होना परमावश्यक है। सगुणोपासना में तो व्यक्तित्व सहज ही प्राप्त हो सकता है। राम और कृष्ण का रूप और लीला-गान किसी भी भक्त को रहस्यवाद के आनन्द-द्वार तक पहुँचा सकता है। संत तुलसीदास का यह कथन है कि—

प्रभु गुन सुनि मन हरषिहै, नीर नयनन ढरिहै।
तुलसिदास भयो राम को, विश्वास प्रेमलखि आनन्द उमगि उर भरिहै।

अथवा मीराबाई का यह पद :

जिनके पिया परदेस बसत हैं, लिखि-लिखि भेजैं पाती।
मेरे पिया मो माँहि बसत हैं, गूँज करूँ दिन राती॥

रहस्यवाद के आनन्द की सृष्टि करते हैं; किन्तु निर्गुण संप्रदाय में जहाँ ब्रह्म निराकार है और उसका व्यक्तित्व या लीला-गान संभव नहीं है, वहाँ प्रेम का आश्रय क्या होगा ? शून्य से प्रेम नहीं किया जा सकता। निर्गुण भावना में प्रेम की साधना प्रतिफलित करने के लिये संत कबीर ने अपने ब्रह्म के लिये प्रतीकों का आश्रय ग्रहण किया है। उन्होंने अपने ब्रह्म से मानसिक संबंध जोड़ा और ब्रह्म को अनेक प्रकार से अपने समीप लाने की विधि सोची। उन्होंने ब्रह्म को गुरु, राजा, पिता, माता, स्वामी, मित्र और पति के रूप में मानने की शैली अपनाई। ब्रह्म का गुरु रूप देखिये :

गुरु गोविन्द तो एक है, दूजा यहु आकार।
आपा मेटि जीवत मरै, तौ पावै करतार॥

राजा रूप :

अब मैं पायो राजा राम सनेही।
जा बिन दुख पावै मेरी देही॥

पिता रूप :

बाप राम सुनि बीनती मोरी।
तुम्ह सूँ प्रगट लोगनि सों चोरी॥

जननी रूप :

हरि जननी मैं बालिक तोरा। काहेन औगुन बकसहु मोरा।

स्वामी रूप :

कबीर प्रेम न चाखिया चखि ना लीया साव।
सूने घर का पाहुँणा ज्यूँ आया त्यूँ जाव॥

मित्र रूप :

देखो कर्म कबीर का कछु पूरब जनम का लेख।
जाका महल न मुनि लहै सो दोसत किया अलेख॥

पति रूप :

हरि मोरा पीव भाई हरि मोरा पीव।
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव॥

इन प्रतीकों में पति या प्रियतम का रूप प्रधान है। इसी प्रतीक के माध्यम से कबीर ने रहस्यवाद का चरमोत्कर्ष प्राप्त किया है जिससे उनके सोऽहम् का अनुभव सम्भव हो सका है।

—(::)—

(शेषांश पृष्ठ २८ का)

उत्साह के साथ, शास्त्रोक्त पद्धति से यह ध्यान करना है—बुद्ध गृद्ध कूट पर्वत पर सप्तस्त विहार में बहु रत बुद्ध के साथ समासीन हैं। दशो दिशाओं के निर्माण बुद्धगण समस्त जीव लोक को आवृत करके विराजमान हैं। जिस प्रकार शाक्य मुनि के मैत्रेय हैं उसी प्रकार प्रत्येक बुद्ध के एक एक सकृतागामी बोधिसत्व पार्श्वधर रूप में विराज रहे हैं। बुद्धों के शरीर से अलौकिक ज्योति निकल रही है जिससे अपरिमित विश्व उद्भासित हो रहे हैं। उन लोगों के कण्ठस्वर से जो प्राणियों के उद्धार के लिये उच्चरित हो रहा है, समस्त जगत परिपूर्ण है, वे लोग सद्धर्म पुण्डरीक सूत्र का पाठ कर रहे हैं। अर्थात, भूत, भविष्य और वर्तमान काल में दशों दिशाओं में जितने प्राणी हैं, वे छोटे हों व बड़े यदि एक बार 'नमो बुद्धाय' उच्चारण करें तो वे बुद्धत्व प्राप्त करेंगे।

महायान एक है उसमें द्वितीय तृतीय कुछ भी नहीं। सभी धर्म एक लक्षण वाले एक द्वार हैं अर्थात् अनुत्पन्न, अनिरुद्ध अतिशून्य! यही महायान है जो लोग योगाभ्यास करते हैं उनके पंचकाय स्वतः निवृत्त हो जाते हैं। पंच बाधाएँ अपने आप दूर हो जाती हैं और पांच इन्द्रिय विकसित होते हैं उन्हें ध्यान समाधि प्राप्त होती है। इस समाधि की अवस्था में वे बुद्ध को गंभीर भाव से प्रेम करते हैं। फिर वे परिशुद्ध धर्म में प्रवेश करते हैं। जो धर्म अति गंभीर, अति सूक्ष्म, एक लक्षण, एक द्वार है। समन्त भद्र वैद्यराज महा प्रतियान, अवलोकितेश्वर, महाप्रभाव प्रतिलब्ध मंजुश्री मैत्रेय और अन्यान्य बोधिसत्वों की वे वन्दना करते हैं। एकाग्र चित्त से परमोत्साह पूर्वक शास्त्रानुकूल सद्धर्म पुण्डरीक की यह जो समाधि है, इसी को "दृढ़स्मृति समन्वित ध्यान समाधि" भी कहा गया है। इस प्रकार सूत्रोक्ति के अनुसार इक्कीस दिन में छः दाँतों वाले श्वेत हाथी पर आरुढ़ समन्तभद्र बोधिसत्व पधारेंगे।

—(::)

तुम सत्य को मानते हो तो खुदा क्यों नहीं? मैं तो कहता हूँ कि अगर मैं सत्य को मानता हूँ तो भगवान को भी मानता हूँ। कारण, भगवान का नाम ही सत्यनारायण है। मेरा सत्य तो जीवित है कि दुनिया में जब सब मिट जायँगे तब भी यही एक 'सत्य' रहेगा।

—महात्मा गांधी

उपादेय ज्ञान

—रामलाल पहाड़ा

मनुष्य स्वभावतः ज्ञानी है पर काम उसके ज्ञान को ढँक लेता है। इस दुरासद शत्रु काम से अभिप्राय छः— काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर— विकार हैं। ये जब धर्म के विरुद्ध होते हैं तब शत्रु समान होकर मनुष्य से कुकर्म करवाते हैं। इन्द्रियों के परे मन, मन के परे बुद्धि और बुद्धि के परे जो तत्व है उसे संयम से जानकर उसकी सहायता से शत्रुओं को मारने को भगवान अर्जुन से कहते हैं। यहाँ इतना ही स्पष्ट हुआ कि बुद्धि के परे एक शक्ति है, जो संयम से जानी जाती है और कामादि शत्रुओं का दमन कर सकती है। आगे समझाते हैं कि प्रणिपात तथा सेवा से तत्वदर्शियों के पास से प्राप्त किया हुआ ज्ञान निषिद्ध कर्मों की परिसमाप्ति कर देता है और श्रद्धा, तत्परता तथा संयम से प्राप्त किया हुआ ज्ञान शीघ्र ही परम शान्ति देता है। यज्ञ अनेक प्रकार के हैं, वे सब कर्मों से ही सम्पादित होते हैं। इतना जानने से भी मनुष्य कर्म-बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं। ज्ञान द्वारा शान्ति और बन्धनों से छुटकारा मिलता है। आगे ज्ञान को नौका, तलवार और अग्नि की उपमा देकर बताया है कि ज्ञान कर्मों को भस्मसात करने की, पापों को पार करने की और संयमों को काटने की शक्ति रखता है। इसलिये ज्ञान ही पवित्रतम है। परन्तु यहाँ स्पष्ट नहीं हुआ कि वह कौनसा ज्ञान है? आगे भगवान कहते हैं कि मुझे यज्ञ और तपों का भोक्ता, सबलोगों का महेश्वर और सब प्राणियों का सुहृद (सुहृदय में स्थित मित्र) जानकर मनुष्य शान्ति पाता है। शान्ति पाने के लिये यह जानना आवश्यक है कि परमात्मा ही सबका सच्चा मित्र है वही सबका श्रेष्ठ शासनकर्त्ता ईश्वर है। वही यज्ञ और तपों का भोक्ता है। बस तत्वदर्शियों से यही ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य शान्ति पाता है। ज्ञान और विज्ञान को समझाते हुए कहते हैं कि अष्टधा, अपरा, प्रकृति और जीवभूत पराप्रकृति को व्यक्त कर सब जगत को धारण करता हूँ। जैसे सूत्र के आधार पर मणियाँ रहकर माला बनाती है वैसे प्रकृतियों के आधार सब जगत स्थित है। मैं ही सब का संरक्षक हूँ। यज्ञ, मंत्र, घृत, औषधि आदि सब परमात्मा के स्वरूप हैं। इस जगत का पिता, माता, धाता और पितामह भी परमात्मा ही है। वही पवित्र ओंकार और ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद भी है। यही सब जानने योग्य है।

विभूतियों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो वस्तु ऐश्वर्य, कान्ति और शक्ति युक्त हैं उसमें मेरा ही अंश है। मैं ही सब में व्याप्त हूँ। मेरा ही एक अंश से जगत स्थित है। जहाँ ऐश्वर्य, शान्ति और शक्ति है वहाँ परमात्मा का विशेष तेज है, यों ही एक अंश जगत है और शेष आसक्त है। सब क्षेत्रों (शरीरों) में क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) मैं ही हूँ। क्षेत्र विकार वाला प्रकृति का अंश है और क्षेत्रज्ञ अविकारी पुरुष है। प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं। दोनों के संयोग से चराचर जगत उत्पन्न होता है। जन्म, मृत्यु, जरा-व्याधि के दुःख देखना, समचित्त रखना पुत्र, दारा, गृहादि में विरक्ति रखना आदि ज्ञान है। पुरुष और प्रकृति के अन्तर को जानकर मनुष्य परब्रह्म को प्राप्त होता है। बुद्धि से परे रहनेवाला तत्व को जानता है, वही कामादि शत्रुओं को मार सकता है। सबसे उत्तम ज्ञान वही है कि महद्ब्रह्म ही योनि है और गर्भ रखने वाला मैं बीजप्रद पिता हूँ। ८४ लाख योनियों में मैं

और मेरी प्रकृति ही काम करते हैं और नाना मूर्त्तियों की उत्पत्ति होती है। प्रकृति से तीन गुण सत्व, रज और तम उत्पन्न होते हैं। सत्व से ज्ञान, रज से राग-द्वेष और तम से प्रमाद वा आलस्य प्राणियों में आ जाते हैं। गुणों से अतीत होने से मनुष्य अमरत्व पाता है। जो धीर, सुख-दुःख में सम, मान-अपमान में तुल्य रहनेवाला है वह गुणातीत होता है। मैं शाश्वत-धर्म या ऐकान्तिक सुख का आश्रय हूँ। नाम-मात्र के धर्म को छोड़कर, ढोंग को त्याग कर शाश्वत धर्म के पालन करने से ऐकान्तिक सुख किंवा परमात्मा की प्राप्ति होती है।

क्षर और अक्षर से अतीत पुरुषोत्तम ईश्वर है जो तीनों लोकों में प्रवेश कर धारण, पोषण करता है। पुरुषोत्तम स्वरूप को जाननेवाला कृतकृत्य हो जाता है। सब धर्मों को— गुणों के विकारों को छोड़कर परमात्मा की शरण ले लेने से वह मनुष्य को सब पापों से— दुखों से बचा लेता है। उस मनुष्य को उद्धार कर देता है।

(शेषांश पृष्ठ दो का)

और यज्ञों का फल मिल गया। दरिद्रता, मृत्यु और संसार के सारे दुःख सत्संग से शान्त हो जाते हैं। अत्यन्त विपरीत दशा में भी सत्संग नहीं छोड़ना चाहिये। संसार का समग्र राज्य और आधे क्षण का सत्संग, यदि दोनों तौला जाय तो सत्संग ही बढ़कर होगा। हृदय का अन्धकार मिट जाता है— शरीर, प्राण और बुद्धि में शीतलता का सञ्चार हो जाता है, जीव भटकना छोड़कर परमात्मा की ओर बढ़ने लगता है। ऐसा है यह सत्संग।

कल्याण-कामियों को अवश्य ही सत्संग करना चाहिये।"

सत्संग की महिमा में अपने शास्त्रोंने कहा है—

'अत्यन्तोत्कृष्ट सुकृत परिपाकवशात् सन्निः संगो जायते। तस्माद्विधिनिषेधविवेको भवति। ततः सदाचार प्रवृत्तिर्जायते। सदाचारादखिल दुरितक्षयो भवति। तस्मादन्तः करणमति विमलं भवति। ततः सद्गुरु कटाक्षमन्तः करमाकार्क्षति। यथा जात्यन्धस्य रूप ज्ञानं न विद्यते तथा गुरूपदेशेन बिना कल्प कोटिभिः तत्वज्ञानं न विद्यते। तस्मात् सद्गुरुकृपा-कटाक्षलेशविशेषेणोचिरादेव तत्वज्ञानं भवति। यदा सद्गुरु कटाक्षो भवति तदा भगवत्कथा श्रवणध्यानादौ श्रद्धा जायते। तस्माद् हृदयस्थितानादिदुर्वासनाग्रन्थि विनाशो भवति। ततो हृदयस्थिताः कामाः सर्वे नश्यन्ति। तस्माद् हृदयपुण्डरीक कर्णिकायां परमात्माविर्भावो भवति।'

अर्थात्, अत्यन्त उत्कृष्ट पुण्य के परिपाक से सत्संग प्राप्त होता है। उससे विधि-निषेध का विवेक उत्पन्न होता है। विवेक से सदाचार में प्रवृत्ति होती है। सदाचार से पापों का क्षय होता है। तब अन्तः-करण अत्यन्त निर्मल हो जाता है। तब सद्गुरु कटाक्ष पाने की इच्छा अन्तःकरण में होती है। जन्मान्ध व्यक्तिको जैसे रूप का बोध नहीं होता, वैसे ही गुरु के उपदेश बिना कोटि कल्प में भी किसी को तत्वज्ञान नहीं होता। सद्गुरु की कृपादृष्टि पड़ जाती है, तब भगवत्कथा-श्रवण-ध्यानादि में श्रद्धा उत्पन्न होती है। उससे हृदयास्थित अनादि दुर्वासनाग्रन्थि का विनाश होता है। उससे हृदयस्थित सब काम नष्ट हो जाते हैं। तब उससे हृत्पद्म की कर्णिका में परमात्मा का आविर्भाव होता है।"

सत्संग से विवेक जगता है। विवेक से सदाचार। सदाचर से पाप-क्षय होता है। पापों के नष्ट होने पर सद्गुरु की प्राप्ति होती है।

इसीलिये स्वयं भगवान् से भी अधिक हैं गुरु की महिमा। कहा गया है—